दशलक्षण महाधर्म

(प्रथम भाग)

संकलन एवं लेखन

पं. हुकमचंद्र शास्त्री भायजी टीकमगढ़

सम्पादन

पं. विमलकुमार जैन सौंरया

एम. ए. शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य

प्रधान सम्पादक वीतरागवाणी मासिक टीकमगढ़

प्रकाशक

श्री बुन्देलखंड स्याद्वाद परिषद

सैलसागर टीकमगढ़ (म० प्र०)

प्रथमावृत्ति	श्री महावीर जयन्ती	मूल्य
५००	१९९२	स्वाध्याय

दशलक्षण महाधर्म
(प्रथम भाग)

❀

संकलन/लेखक
श्री हुकमचन्द शास्त्री भायजी

❀

सम्पादन
श्री पं. विमलकुमार जैन सोंरया
एम. ए. शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य

❀

प्रकाशन
श्री बुन्देलखण्ड स्याद्वाद परिषद

❀

प्रथमावृत्ति ५००
श्री महावीर जयन्ती १९९२

❀

मूल्य–
भेंट स्वाध्याय हेतु

❀

मुद्रण–
बर्द्धमान मुद्रणालय टीकमगढ़
फोन २५९२

प्रकाशकीय

श्री बुन्देलखण्ड स्याद्वाद परिषद् का जन्म प्रान्तीय स्तर की दृष्टि से हुआ था अपने तीस वर्ष के जीवन काल में राष्ट्र स्तर की संस्था के रूप में इसका अभ्युदय देखकर मुझे अपार प्रसन्नता है। साहित्य प्रकाशन के लोकोत्तर उद्-देश्य की पूर्ति में यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

रजत जयन्ती के अवसर पर परिषद् के २५ विद्वानों को नगद राशि प्रशस्ति पत्र प्रदान कर मदनपुर तीर्थ पर हुए गजरथके समय सम्मानित किया गया था और एक स्मारिका का भी प्रकाशन किया गया था। भविष्य में स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हम इस परिषद् के तत्वावधान में समाज संस्कृति साहित्य और धर्म के हित में जिस लोकोत्तर कार्य को साकार करने जा रहे हैं उससे इस परिषद् की अपनी गरिमा युगों युगों तक जीवन्त रहेगी।

श्री पं. हुकमचन्द्र जी शास्त्री भायजी टीकमगढ़ द्वारा संकलित एवं रचित दशलक्षण धर्म के सम्बन्ध की विपुल सामग्री को कुछ संक्षिप्त कर हमने दो भागों में उसे प्रका-शित करने का निश्चय किया है प्रथम भाग के रूप में धर्म क्षमा से शौच तक पांच धर्मों की महत्वपूर्ण सामग्री इस भाग में समाहार की है संयम से ब्रम्हचर्य तक शेष ५ धर्मों की सामग्री का प्रकाशन दूसरे भाग में प्रकाशित किया जाएगा। आशा है हमारे जिज्ञासु पाठक इस कृति से आत्म कल्याण का सुखद पद प्राप्त करने में सक्षम होंगे।

इस कृति को प्रकाशित करने में श्री पं. हुकमचन्द्र जी शास्त्री भायजी के द्वारा पर्यूषण पर्व १९८८ में टिकैतनगर

जिला बाराबंकी की सकल दिगम्बर जैन समाज ने १५५०) रुपए का सहयोग दिया था। तथा श्री बुन्देलखण्ड स्याद्वाद परिषद् द्वारा लगभग ३८५०) रुपए की राशि व्यय कर इस कृति का प्रकाशन कुल ५४००) की राशि से किया गया है। यह कृति परिषद के सदस्यों तथा समाज के जिज्ञासु जनों के लाभार्थ निशुल्क वितरित की जा रही है। देश के समाज सेवी जनों, विद्वानों, मुनिराजों के आशीर्वादों से पुष्पित इस संस्था ने साहित्य प्रकाशन की दिशा में जिस भूमिका का निर्वाह किया है अन्य देश की जैन परिषदों के लिए एक प्रेरणा है।

आभारी हैं अपने वयोवृद्ध विद्वान पं. हुकमचन्द जी शास्त्री भायजी टीकमगढ़ के जिन्होंने साहित्य सृजन में अपने जीवन क्षणों की आहुतियां प्रदान कर माँ जिनवाणी के कोष को वृद्धिगत किया।

चिरंजीव पं. वर्द्धमानकुमार जैन सोंरया टीकमगढ़ साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने शीघ्र ही इसका मुद्रण प्रकाशन कराने में अपना सहयोग दिया।

महावीर जयन्ती
१५ अप्रैल १९९२

—विमलकुमार जैन सोंरया
एम. ए. शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य
महामंत्री—श्री बुन्देलखंड स्याद्वाद परिषद

प्राक्कथन

दशलक्षण धर्म या पर्यूषण पर्व

आत्म कल्याण का पवित्र पर्व दशलक्षण धर्म है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी से चतुर्दशी तक तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भाद्रपद कृष्णा १२ से भाद्रपद शुक्ला ४ तक मनाया जाता है।

इन दिनों में जैन मन्दिरों में खूब आनन्द छाया रहता है ! प्रतिदिन प्रातःकाल से ही सब स्त्री पुरुष स्नान करके मन्दिरों में पहुँच जाते हैं और बड़े आनन्द के साथ भगवान का अभिषेक पूजन करते हैं तथा सभी मन्दिरों की वन्दना करते हैं। पूजन समाप्त होने पर प्रतिदिन श्री तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायों में से एक एक अध्याय का क्रम से वाचन व व्याख्यान और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों के कारण इस पर्व को दशलक्षण पर्व कहते हैं क्योंकि धर्म के उक्त दश लक्षणों का इस पर्व में खास तौर से आराधन किया जाता है। व्याख्यान के लिए बाहर के बड़े बड़े विद्वान बुलाये जाते हैं और प्रायः सभी स्त्री पुरुष उनके उपदेशों से लाभ उठाते हैं।

त्याग धर्म के दिन परोपकारी संस्थाओं को दान दिया जाता है। और आश्विन कृष्णा प्रतिपदा के दिन पर्व की समाप्ति होने पर सब पुरुष एकत्र होकर गले मिलते हैं और गत वर्ष की अपनी गलतियों के लिए परस्पर में क्षमा याचना करते हैं। जो लोग दूर देशान्तर बसते हैं उनसे क्षमा वाणी पत्र लिखकर क्षमा याचना करते हैं।

इन दिनों में प्रायः सभी स्त्री पुरुष अपनी अपनी शक्ति के अनुसार व्रत उपवास आदि करते हैं। कोई कोई दशों दिन उपवास करते हैं, बहुत से दशों दिन एक बार भोजन करते हैं। इन्हीं दिनों में भाद्रपद शुक्ला दशमीं को सुगन्ध दशमी पर्व मनाया जाता है। इस दिन सब जैन स्त्री पुरुष एकत्र होकर मन्दिरों में धूप खेने के लिए जाते हैं।

इन्दौर, देहली आदि शहरों में यह उत्सव दर्शनीय होते हैं। भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी अनन्त चतुर्दशी कहलाती है। इसका जैनों में बड़ा महत्व है जैन शास्त्रों के अनुसार इस दिन व्रत करने से बड़ा पुण्य लाभ होता है।

दूसरे यह दशलक्षण पर्व का अन्तिम दिन भी है इस-लिये इस दिन प्रायः सभी जैन स्त्री पुरुष व्रत रखते हैं और दिन मन्दिर में ही बिताते हैं। अनेक स्थलों पर इस दिन जल यात्रा का जुलूस निकलता है। कुछ लोग इन्द्र बनकर जुलूस के साथ जल लाते हैं और पूजन के बाद अनन्त चतुर्दशी व्रत की कथा होती है। जो व्रती निर्जल उपवास नहीं करते वे कथा सुनकर ही जल ग्रहण करते हैं।

इस पर्व का सम्मान मुगल सम्राट भी किया करते थे सम्राट अकबर ने श्वेताम्बर जैन आचार्य श्री हरि विजयसूरि के उपदेश से प्रभावित तथा प्रेरित होकर पर्यूषण पर्व में हिंसा बन्द करने का फर्मान अपने साम्राज्य में जारी किया था।

दशलक्षण धर्म

सिद्धि प्रासाद निःश्रेणी पंक्तिवत् भव्य देहि नाम।
दशलक्षण धर्मोऽयं नित्यं चित्तं पुनातु नः ॥१॥

भव्य जीवों को सिद्धि महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की पंक्ति के समान यह दशलक्षण मय धर्म नित्य ही हम लोगों के चित्त को पवित्र करे। इन दश लक्षण धर्मों के उपासना के पर्व को पर्यूषण पर्व भी कहते हैं।

चूंकि इसमें उपवास आदि के द्वारा आत्मा को पवित्र बनाया जाता है। यह पर्व भाद्रपद में मुख्य रूप से मनाया जाता है। भाद्रपद माह सर्व माहों में श्रेष्ठ है। कहा भी है—

अहो भाद्र पदाह्वयोऽयं मासोऽनेक व्रताकरः।
धर्म हेतु परो भव्येऽन्य मासानां नरेन्द्र वत्॥

जिस प्रकार मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार से सर्व महीनों में यह भाद्रपद नाम का महीना श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अनेक व्रतों की खान है और धर्म का प्रधान कारण है।

इस महीने में सबसे अधिक व्रत आते हैं। सोलह कारण, श्रुत स्कंध, जिन मुखावलोकन और मेघमाला ये चार व्रत तो पूरे महीने भर किये जाते हैं तथा दशलक्षण, रत्नत्रय, पुष्पाञ्जलि, आकाश पंचमी, सुगंध दशमी, अनंत चतुर्दशी, चन्दन षष्ठी, निर्दोष सप्तमी तीस चौबीसी, रुक्मिणी व्रत, निःशल्य अष्टमी, दुग्ध रसी, धनद कलश, शील सप्तमी, कांजीवारस, लघु मुक्तावली, त्रिलोक तीज और श्रवण द्वादशी ये व्रत सम्पन्न किये जाते हैं।

काम का विचार किये बिना कार्य करते वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है। कोई सहायक न होने पर भी लड़ाई

करने वाला नष्ट हो जाता है। पानी की तरह मदिरा पीने वाला, नित नई स्त्रियों के साथ भोग विलास करने वाला और असाध्य रोग से ग्रस्त व्यक्ति भी नष्ट हो जाता है।

दशलक्षणी पर्यूषण पर्व वर्ष में तीन बार (माघ, चैत्र व भाद्र मास) में आता है। दशलक्षणी-पर्यूषण पर्व-यह आराधना का महान पर्व है। चैतन्य की भावना पूर्वक सम्यग्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना या उत्तम क्षमादि धर्म रूप वीतराग भाव की उत्कृष्ट रूप से उपासना इसका नाम पर्यूषण है। जैसे गृहस्थ श्रावकों को भी अपनी शक्ति के अनुसार आंशिक रूप से उन सब धर्मों की आराधना होती है। ऐसी आराधना की भावना करना, आराधना के प्रति उत्साह बढ़ाना, आराधक जीवों के प्रति बहुमान सम्मान से वर्तना इत्यादि सब तरह के उद्यम से आत्मा को आराधना में लगाना यह मुनि और श्रावक सभी का कर्तव्य है। इस लेख के द्वारा हम सबको प्रेरणा मिलती रहे यही भावना है।

दश धर्म- (१) उत्तम क्षमा-क्रोध न करना, सब जीवों प्रति क्षमा भाव रखना (२) उत्तम मार्दव- मान न करना, यथा योग्य सब की विनय करना (३) उत्तम आर्जव-छल कपट न करना सरलता रखना (४) उत्तम सत्य-झूठ नहीं बोलना हित मित प्रिय सत्य वचन बोलना या मौन रखना। (५) उत्तम शौच-लोभ नहीं करना मन को पवित्र रखना। ६। उत्तम संयम-पंचेन्द्रिय के विषयों की चाह नहीं करना और सब जीवों की रक्षा करना। (७) उत्तम तप- बिना किसी चाह के तप करना नित्य नियम से स्वाध्याय करना। (८) उत्तम त्याग- शक्ति के अनुसार चार प्रकार का दान देना तथा

राग द्वेष का त्याग करना। (६) उत्तम आकिंचन्य- संसार का कोई पदार्थ मेरा नहीं है परिग्रह का परिमाण करना। (१०) उत्तम ब्रम्हचर्य- मन, वचन काय से स्त्री का त्याग करना आत्म के स्वभाव का चिन्तवन करना।

तीर्थ और उसका महत्व

तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं। शास्त्र, उपाध्याय, उपाय पुण्यकर्म पवित्र स्थान आदि। तीर्थ वह स्थान है जिससे संसार सागर से तरा जाय उसके समागम में पहुंच कर मुमुक्षु संसार सागर से तरने का उद्योग करता है।

उनमें भी निर्वाण का क्षेत्र का महत्व सर्वोपरि है। वे तो महातीर्थ हैं। इन क्षेत्रों में बड़े बडे प्रसिद्ध पुरुष सिद्ध हुए हैं। पुराण पुरुष अर्थात् तीर्थङ्करों के आश्रय स्थानों अथवा उनके निमित्त कल्याणक स्थानों में ध्यान की विशेष सिद्धि होती है। ध्यान ही वह अमोघ अस्त्र है जो पाप शत्रु को नष्ट करता है। मुमुक्षु पाप से डरता है। तीर्थ वन्दन से पाप कर्म धुल जाते हैं। बार बार जाकर पर्वतादि क्षेत्र की वंदना करता है। चलते चलते यही भावना करता है कि भव भव में मुझे ऐसा ही पुण्य योग मिलता रहे।

प्रद्युम्न का जन्म होते ही पूर्व भव के बैरी देव ने उसे अपनी विद्या के बल से हजारों मन की वजनी शिला के नीचे दबा दिया। इतने में विद्याधर राजा काल संवर अपनी रानी कनक माला के साथ विमान में बैठकर जा रहा था। ऊपर से उसने उस शिला को हिलते हुए देखा तो नीचे उतर कर शिला के पास आकर क्या देखता है कि एक बालक शिलाखण्ड के नीचे दबा हुआ है और उसकी श्वांस से शिला

छिप रही है। उसने शिला को हटाकर बालक को निकाला। इस सुन्दर होनहार बालक को देखकर राजा रानी बड़े प्रसन्न हुए और उसे घर लाकर अपने बालक की तरह पाला जो बड़ा होकर बड़ा पराक्रमी और अनेक विद्याओं का स्वामी हुआ। आयु कर्म शेष था तो इतनी बड़ी विशाल शिला के नीचे भी जीवित रहा।

धर्म कार्य की महत्ता

भरत चक्रवर्ती को एक साथ तीन शुभ समाचार मिले। एक सेवक ने सुनाया 'पृथ्वीनाथ के यहां पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है।' दूसरे ने कहा स्वामिन्! आयुध शाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई है, शीघ्र चक्र रत्न की पूजा का आनन्दोत्सव की तैयारी करायें! तीसरे ने संवाद सुनाया-'हे महाभाग्य त्रिलोकीनाथ भगवान आदिनाथ को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है।'

तीनों सुखद समाचार सुनकर चक्रवर्ती ने सोचा सबसे पहले कौन सा उत्सव मनाया जाय? विचारा भगवान आदि-नाथ का ज्ञान कल्याणक उत्सव ही सबसे पहले मनाकर पश्चात दूसरे उत्सव मनायें। एक मन्त्री ने कहा स्वामिन् जिसके बल पर आपको पृथ्वी का आधिपत्य मिलना है, उस चक्र रत्न का उत्सव सबसे पहले क्यों नहीं मनाया? उत्तर मिला ज्ञान लक्ष्मी के आगे चक्र रत्न आदि लक्ष्मी तो काक की तरह व्यर्थ है और यह सब लौकिक लक्ष्मी पुण्य के प्रभाव से ही तो मिलती है। अतः धर्म कार्य सबसे पहले करना चाहिए।

धर्म

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्वान्, यो धरत्युत्तमेसुखे ॥

जो जीवों को संसार के दुखों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है । उस कर्मों को नाशक अबाधित और उत्तम लोक में उपकारक धर्म को मैं (श्री आचार्य समन्तभद्र) उपदेश देता हूँ ।

धर्म एक ऐसा विषय है जिसको एक राहगीर से लेकर एक विद्वान मनीषी तक सभी ने अपने अपने स्तर का चिंतन का विषय बनाया है । विश्व के चिन्तकों ने धर्म की परिभाषायें भी विभिन्न ढंग से प्रतिपादित की है । पहली साध्य की अपेक्षा और दूसरी साधन की अपेक्षा ।

उसमें प्रथम है वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । आत्मा का स्वभाव है शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना इसलिये स्वभाव रूप धर्म से परिणित आत्मा स्वयं धर्म है । मोह व क्षोभ रहित अर्थात् राग द्वेष व योगों की चंचलता से रहित आत्मा के परिणाम धर्म हैं । तात्पर्य आत्मा का आत्मा में रत होना धर्म है । तदानुसार समता, चारित्र, माध्यस्तता, शुद्ध भाव, वीतरागता, धर्म के सभी एकार्थ वाचक हैं ।

साधन की अपेक्षा भी कारण में कार्य का उपचार करके धर्म की अनेक परिभाषायें की हैं । यथाः- (१) जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख में (स्वर्ग अथवा मोक्ष रूप वीतराग सुख में पहुँचावे उसे धर्म कहते हैं । (२) संसार में पड़े हुए जीवों को जो चतुर्गति के दुःखों से रक्षा करता है वह धर्म है । (३) दया धर्म का मूल है अथवा

अहिंसा परमो धर्म है । (४) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र को धर्म कहते हैं । (५) दर्शन को धर्म का मूल कहा गया है ! आत्मा का स्वभाव आनन्द है, इन्द्रिय सुख नहीं । अत: रागादि विभाव भावों से निजात्मा को विशुद्ध कर स्वभाव में स्थित होने में ही साध्य व साधन की सार्थकता है । धर्म कहीं आकाश या स्थान विशेष में नहीं रहता । वह तो द्रव्य में रहता है । धर्म धर्मी के बिना नहीं रहता । कहा भी है–न धर्मो धार्मिकेबिना ।अत: धर्मी से ही धर्म की पहचान होती है ।

जो व्यक्ति धर्म को उपलब्ध होता है अथवा धर्म को प्रकट कर लेता है उसमें बहुत से गुण प्रकट हो जाते हैं । उसका चिन्तन शान्त व विकार रहित होता है, उसकी भाषा मृदु, मिष्ठ व हितकारी हो जाती है । उसकी चर्या व व्यवहार संयमित व अहिंसक हो जाती है । उसकी पहचान उसके कर्म व आचरण से स्वयं हो जाती है फिर भी आचार्यों ने उसके मुख्यत: दशलक्षण कहे हैं–उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य । उक्त दश भिन्न भिन्न धर्म नहीं अपितु एक ही व्यक्ति में अर्थात् धर्मात्मा में प्रकट होने वाले दशलक्षण हैं ।

जो फूलों में सुगन्ध वत स्वभाव से प्रकट होते हैं जिसमें ये लक्षण हों वह धर्मात्मा हो भी सकता है किन्तु जो धर्मात्मा होता है उसमें निश्चित रूप से उक्त लक्षण स्वभाव से प्रकट हो जाते हैं । ख्याति पूजादि की भावना से धारी गई क्षमा आदि उत्तम नहीं है ।

सम्यग्दर्शन पूर्वक प्रकट हुई क्षमा आदि ही उत्तम है। यही दश धर्म आत्म सुख के सोपान हैं। धर्म वही है जो आत्मा को मोक्ष मार्ग पर ले जाये। और मनसावाचा-कर्मणा किसी प्राणी को क्लेशित होने से बचाये।

भारतीय संस्कृति में संस्कारित हमारे विद्वानों ने धर्म के सम्बन्ध में जो लिखा है उनके द्वारा कथित दोहों का हम धर्म तथा प्रत्येक धर्म सम्बन्धी सौ सौ दोहों को यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है यह कथन आपको धर्म महल तक ले जाने में सहकारी होगा।

धर्म शतक

उत्तम सुख में जो धरे, सुगम पंथ दिखलाय ।
करे करम से मुक्त जो, श्रेष्ठ धर्म कहलाय ।।१।।
चला लक्ष्मी औ प्राण है, और जीव का धाम ।
ये ही चलाचल जगत में अचल धर्म अविराम ।।२।।
मैं ही मंगल श्रेष्ठ है, दुक्खौषधि है धर्म ।
जनगण को बल धर्म है, त्राणभूत है धर्म ।।३।।
देह स्वजन धन छोड़ दे, चर्मकाल के माथ ।
जीव सहायक धर्म है, जो नित साथे जाय ।।४।।
धर्म तत्व परमार्थ विद्, शील करें नहिं भंग ।
नहिं टालें गुरु वचन को, नहिं कुशील को संग ।।५।।
धर्म बन्धु अरु मित्र है, धर्म गुरु भर्तार ।
मुक्ती मारग के लिए, सन्मति का दातार ।।६।।
गाढ़े रहिये धरम में, काम न आवे कोय ।
अनहोनी होनी नहीं, होनि होय सो होय ।।७।।
धर्म हरे बहु व्याधि को, धर्म हरे ग्रह-दुक्ख ।
धर्म ही से रिपु जीतिये, तहाँ धर्म तहं सुक्ख ।।८।।
धर्म अर्थ कामादि में [illegible] में एकहु नाहिं ।
जन्य लिये, का फल [illegible]वल मरणहि ताहि ।।९।।
धर्म घटाये धन घटे, [illegible] घट मन घट जात ।
[illegible] ही घटे सब ही घटे, घटत घटत घट जात ।।१०।।
बने धर्म का दास जो, उसके हों सब दास ।
जो अधर्म का दास है, वह ही सबका दास ।।११।।
यह जग दुख को पींजरा, जो न निबाहें धर्म ।
स्वर्ग-मुक्ति भी न मिले, जो न करै सत्कर्म ।।१२।।

रक्षित वह है धर्म को, जिसका उसकी आस्त ने
पाप हेतु छोड़े नहीं, अथवा मार्ग प्रशंसा ॥१३॥
'रहिमन' बिना बुद्धि बढ़े, नहीं धरम यश पावे ।
भूपर जन्म वृथा धरे, पशु बिन पूंछ विषाण ॥१४॥
एक धर्म ही मित्र है, चले साथ है आय ।
वैज्ञानिक सब कहत है, धर्म बुद्धि दो आय ॥१५॥
अन्त समय कुछ ना बने, धर्म करिये आज ।
आग लगे फिर कूप को, खोदत बने न काज ॥१६॥
धर्म किए सुख होत है, धर्म किए सुर होय ।
धर्म किये शिवपुर बसे, धर्म समान न कोय ॥१७॥
धर्म करे नहिं दुष्ट चित, लोभी धन किमि पाय ।
भागहीन को लाभ नहिं, नहिं औषधि गत आयु ॥१८॥
यथा शक्ति ही धरम कर, शेष धरो विश्वास ।
श्रद्धा करता जीव भी, पाता मुक्ति निवास ॥१९॥
माया सगी न तन सगा, सगा नहीं परिवार ।
सद्गुरु कहते जीव को, सगो है धर्म विचार ॥२०॥
माला में मन ना लगे, भोगों में मन जाय ।
करें न उद्यम धर्म का, अन्त अकारथ जाय ॥२१॥
क्षण भर भी तजिये नहीं, सत्य धर्म की टेक ।
प्राण जाय पर धर्म की, रक्षा करिये नेक ॥२२॥
निद्रा, भोजन भोग भय, पशु अरु मनुज समान ।
धर्म अधिक है मनुज में, धर्म बिना पशु जान ॥२३॥
आत्मा सबका देव है, गुरु है अपना ज्ञान ।
और धरम अपना परख, निश्चय करो प्रमाण ॥२४॥

ऊँचे उठ फिर ना गिरें, यह मजब का कर्म।
सबको ले ऊपर उठे, इससे बड़ा न धर्म ॥२५॥
धर्म भिन्न फिर कौन है, कहो सुधी कल्याण।
जिससे मिलता स्वर्ग है तथा कठिन निर्वाण ॥२६॥
धर्म तुल्य इस संसार में, अन्य न कुछ भी श्रेय।
और न इसके त्याग सम, अन्य न अधिक अश्रेय ॥२७॥
धर्म पदारथ धन्य जग, जा पटतर कछु नाहिं।
दुर्गति वास बचाय के, धरे सुरग शिवमाहिं ॥२८॥
अपने मन की शुद्धि ही, सब धर्मों का सार।
शब्दाडम्बर मात्र है, वृथा अन्य व्यापार ॥२९॥
क्रोध लोभ के साथ में, त्यागो ईर्ष्या मान।
मिष्ट वचन भाषी बनो, यही धर्म सोपान ॥३०॥
आज काल को छोड़कर, अब भी कर तू धर्म।
मृत्यु समय भी साथ दे, परम मित्र यह धर्म ॥३१॥
कनक कामिनी से करे, जैसो हित अधिकाय।
तस हित माने धरम में, तो दुर्गति टल जाय ॥३२॥
करम करत हैं पाप के, बार बार मन लाय।
धरम सनेही मित्र की, नेक न करत सहाय ॥३३॥
ओले बरसे शीश पै, पांव विराये शूल।
तब भी धर्म न छोड़िये, लक्ष्य प्राप्ति को मूल ॥३४॥
सूल बाँचि उपदेश सुन, तजे न आलस कषाय।
जान बूझ कूए गिरे, तिनसों कहा बसाय ॥३५॥
बिन समझे ते समझ सी, समझे समझै नाहिं।
काचे घट माटी लगे, पाके लागे नाहिं ॥३६॥

जग की सारी सम्पदा, धर्म बिना निस्सार ।
लवण बिना जैसे बने, व्यंजन विविध प्रकार ॥३७॥
मुख से जाप कियो नहीं, कियो न कर से दान ।
सदा भार ढोते फिरे, ते नर पशु समान ॥३८॥
स्वामि काज में टर गए, पायो दुख भरपूर ।
आगे क्या कहु छूट हो, पूछे आय हजूर ॥३९॥
पहले कियो सो अब मिलो, भोग रोग उपभोग ।
अब करनी ऐसी करो, जो परभव के जोग ॥४०॥
लाखों खरचे पाप में, कौडी धरम न जाय ।
सो पापी मर नरक में, आगे आगे जाय ॥४१॥
दया नम्रता दीनता, क्षमा शील सन्तोष ।
इनको ले सुमिरन करे, निश्चय पावे मोक्ष ॥४२॥
धर्म सुखांकुर मूल है, पाप दुखांकुर खान ।
गुरुआम्नाय से धर्मगृह, आपा पर का ज्ञान ॥४३॥
पुष्कल पुण्य प्रभाव से, जीव पाय मनुजत्व ।
आर्य क्षेत्र कुल जाति अब, पावे धर्म महत्व ॥४४॥
बीज राख फल भोगवे, ज्यों किसान जग माहिं ।
त्यों चक्री नृप सुख करें, धर्म बिसारैं नाहिं ॥४५॥
राज भोग सम्पति सुकुल, विद्या रूप विज्ञान ।
अधिक आयु आरोग्यता, प्रकट धर्म फल जान ॥४६॥
धर्म किये क्या लाभ है । यह मत पूछो बात ।
देखो नृप की पालकी, वाहक गण ले जात ॥४७॥
धर्म शून्य जाता नहीं, जिसका क्षण भी एक ।
बन्द किया भव द्वार को, उसने ही सविवेक ॥४८॥

जिसका साथी धर्म है, करो सदा वह काम ।
जिसके साथ अधर्म है, छोड़ो उसका नाम ॥४६॥
शान्ति समान तप भी नहीं, सुख सन्तोष समान ।
नहीं तृष्णा सम व्याधि है, दया धर्म सम आन ॥५०॥
धर्म अन्य सुख को कहें, सच्चा सुख श्रीमान् ।
विषय वासना सुख सदा, लज्जा दुक्ख निदान ॥५१॥
अयाचक ही धर्म है, धरमी याचे नाहिं ।
धर्मी बन याचन लगे, वे ठगिया जगमाहिं ॥५२॥
बह करके नहीं लौटते, ज्यों गिरि निर्झरणाह ।
उठरे, आतम धरम कर, सोवत निश्चित काह ॥५३॥
विनय मूल व्यक्तित्व का, दर्प जीव का शूल ।
व्यवसाय श्री मूल है, धर्म सुखों का मूल ॥५४॥
सहि कुबोल साँसति सकल, अंगइ अनट अपमान ।
'तुलसी' धरम न त्यागिये, कहकर गए सुजान ॥५५॥
दुक्खित सब संसार है, सुखी दिखे नहीं कोय ।
एक सुखित निज धर्म है, जिहँ घट परकर होय ॥५६॥
दीपक में ज्यों तेल है, जलता पल पल जाय ।
करो धर्म तो आज कर तन छिन छिन खिर जाय ॥५७॥
दान दिया, तप व्रत किया, भरे पुण्य भण्डार ।
जिसने प्रभु भक्ति करी, वे उतरे भव पार ॥५८॥
शाश्वत सुख यदि चाहते, करो तत्व निर्धार ।
तत्त्वों में निज तत्त्व ही, तीन लोक में सार ॥५९॥
धर्म क्षमादिक अंग दश, धर्म दयामय जान ।
दर्शन ज्ञान चरित्र धरम, धर्म तत्त्व श्रद्धान ॥६०॥

इसी धर्म के अंग दश, इनका फल शिव धाम ।
धरम उद्धरत जगत से, राखै अविचल ठाम ॥६१॥
गाढ़ गह्यो सोई तिरयो, कहा साहु कहँ चोर ।
अंजन भयो निरंजना, सेठ वचन के जोर ॥६२॥
जीव दया सा पुण्य नहिं, जीव दया सा धर्म ।
जीव दया सा पर्व नहिं, जीव दया सा कर्म ॥६३॥
जैसे ज्वर के जोर से, भोजन की रुचि जाय ।
तैसे कुकरम के उदय से, धरम-वचन न सुहाय ॥६४॥
जो प्राणी ममता तजे, लोभ मोह अहंकार ।
कह 'नानक' आपुन तरे, औरन लेत उबार ॥६५॥
जब लौं देह समर्थ है, जब लौं मरना दूर ।
तब लौं आतम हित करो, प्राण अन्त सब धूर ॥६६॥
जो जिय चाहत आत्महित, तजो भाव संक्लेश ।
उज्ज्वल जीवन भाव शुभ, राखो सदा विशेष ॥६७॥
जो नहिं साधै आत्महित, जग को दे उपदेश ।
वह तो करछी तुल्य है, पर से स्वाय न लेश ॥६८॥
ज्यों छत्तीसी अंक से, बदले त्रेसठ होय ।
त्यों दृष्टि के फेर से, आतम परमातम होय ॥६९॥
जहाँ पाप तहँ धर्म नहिं, धर्म बिना नहिं शर्म ।
धर्म बिना नर भव विफल, सार जगत में धर्म ॥७०॥
जो चाहो निज आत्म का, रक्षण अरु उत्थान ।
करो धर्म का अनुसरण, समझो धर्म प्रधान ॥७१॥
ठीक ठीक श्रद्धान हो, ठीक ठीक हो ज्ञान ।
जिसमें भ्रम रहे नहीं, उसे धर्म ही मान ॥७२॥

धन्य पुरुष स्वाध्याय से, जिनके सत्य विचार।
शिव पथ के उस पान्थ को, मिले न फिर संसार ॥७३॥
धर्म वचन नर के लिए, दृढ़ लाठी का काम।
देते विपदा काल में, कर रक्षा अविराम ॥७४॥
धर्म मूल हो सम्पदा, पुण्य हेतु विख्यात।
कष्ट भी हो यदि मध्य में, अन्त मिले वह तात ॥७५॥
धर्म तथा शुभ नीति से, जो करता उपकार।
उसके पुण्य प्रभाव से, सब ही श्लाघाकार ॥७६॥
धर्म घात कर मोह से, भोगे भोग निशंक।
तरुवर जड़ से काट के, फल चाहत वे रंक ॥७७॥
धर्म-अर्थ अरु काम अरु, मं झन एकहु जास।
अजा-कण्ठ-कुच-के सदृश, व्यर्थ जन्म है तास ॥७८॥
धर्म ग्रन्थ भी विश्व के, सन्तों का जयघोष।
करते हैं जिनकी सदा, सत्य वचन निर्दोष ॥७९॥
नीति-धरम को छोड़के, करत पाप से हेत।
चलनी में गैया दुहें, दोष कपारे देत ॥८०॥

परिजन-धन के वास्ते, धर्म न अपना हार।
जो हारेगा धरम को, निश्चय होगी हार ॥८१॥
जीवन नौका डूबती, कौन उतारे पार।
धर्म-ध्यान जो आचरे, तो उतरे भव पार ॥८२॥

धर्मी को लख पापि जन, जागृत को लख चोर।
कवि को लखकर मूक नर, करें कोप घन घोर ॥८३॥
स्वारथ का संसार है, केवल धर्म अमोल
रे चेतन! उठ देखले, जरा हिये की खोल ॥८४॥

घर सम्पत्ति परिवार सब, नहीं जात हैं साथ ।
धर्म एक आगे चले, गहि लीजे निज हाथ ॥८४॥
छोड़ छोड़ हठ वाद को, तोड़ तोड़ हठ गांठ ।
मोड़ मोड़ निज को सुधी, बाँध धर्म की गांठ ॥८६॥
चूना बिन ज्यों पान है, दर्शन बिन ज्यों रंग ।
दान-शील तप धर्म है भाव बिना हैं जंग ॥८७॥
जिसने त्यागे विश्व के, पाप भरे सब कर्म ।
उनमें भी वह मुख्य है, सदा अहिंसा धर्म ॥८८॥
जो गृह करे तो धर्म कर, नहिं तो ले वैराग्य ।
बैरागी बन्धन फँसे, ताको बडो अभाग ॥८६॥
जोग यज्ञ जप तप कछुक, सध न सकत सब साज ।
भव सागर से तरन को, प्रभु का नाम जहाज ।६०॥
जब तक घेरत रोग नहीं, जरा न आवे पास ।
जब तक तन बल अधिक है, शिव का करे प्रयास ।६१।
काया शीशी कांच की, छिन में जै है फूट ।
ढील न कीजे धरम-रस, लूट सको तो लूट ॥६२॥
गुण अरु धर्म सु थिर रहे यश प्रताप गम्भीर ।
सफल वृक्ष जिमि लह लहे, उस मारग चल वीर ॥६३॥
धर्म-मित्र अरु पाप अरि, जो नित जानत होय ।
पढ़कर गुनकर शास्त्र को, अमल करे सुख होय ॥६४॥
जिनके दान न धर्म है, चले न गुन की गैल ।
ते जन जानो दूसरे, बिन सींगन के बैल ॥६५॥
जन्म जरा रुज से डरे, धर्म महौषधि पीव ।
अविनाशी तन ज्ञानमय, पाय सुखी हो जीव ॥६६॥

मीन प्रीति जल से करे, जल बिन जीवन देत ।
ऐसे पाले धर्म नर, निज आतम हित हेत ॥९७॥
बिना पढ़े परतीति गह, राखो गाढ़ बिचार ।
याद करत तुष मासे को, उतर गये भव पार ॥९८॥
जांचे सुर तरु देत सुख, चिन्तत चिन्ता रैन ।
बिन यांचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन ॥९९॥
धर्म कल्प तरु के निकट, मागूँ शिवफल आज ।
दान पुण्य की कर क्रिया, पाऊँ सुख साम्राज ॥१००॥

उत्तम क्षमा

क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी मन में विकार भाव नहीं लाना, कर्म सिद्धान्त का चिन्तवन करते हुए प्राणी मात्र पर साम्य भाव रखना उत्तम क्षमा धर्म है।

अत्यन्त दारुण भयानक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी जिनका निर्मल चित्त क्रोध से आवृत नहीं होता है। जिनके हृदय से सब प्राणियों के प्रति मैत्री भाव एवं समता का स्रोत उमड़ता रहता है। निशल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान रहित) एवं कषाय रहित ऐसे श्रमण मुनिराज) के यह निर्मल उत्तम क्षमा धर्म होता है।

उत्तम छिमा जहाँ मन होई। अन्तर बाहर शत्रु न कोई।

श्रेणिक राजा के घोर उपसर्ग करने पर भी श्री यशोधर मुनिराज क्षमा धर्म की आराधना से डिगे नहीं, क्षमा भाव धारण करके चेलना और श्रेणिक को भी धर्म प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। दूसरी ओर श्रेणिक राजा ने भी विराधना का अनन्त क्रोध परिणाम छोड़कर सम्यग्दर्शन से धर्म की आराधना प्रकट की।

यह भी उत्तम क्षमा की आराधना का एक प्रकार है। क्रोध के बाह्य प्रसंग उपस्थित होने पर भी रत्नत्रय की दृढ़ आराधना के बल से क्रोध की उत्पत्ति नहीं होने देना और वीतराग भाव से रहना असह्य प्रतिकूलता आने पर आराधना में भंग नहीं होने देना ही उत्तम क्षमा धर्म की आराधना है। ऐसी उत्तम क्षमा के आराधक सन्तों को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

"दुष्ट जनाक्रोश प्रहसनावज्ञा ताडन शरीर व्यापादनादीनां सन्निधने कालुष्यानुत्पत्ति क्षमा"

अर्थात् दुष्ट मनुष्यों के द्वारा निन्दा, गाली, हास्य, अनादर, मारन तथा शरीर घात करने को उद्यत होने पर भी कलुषित भावों का न होना उत्तम क्षमा है तथा च "सत्यपि सामर्थ्ये अपकारं सहनं क्षमा"। अर्थात् सामर्थ्य होने पर भी दूसरों के द्वारा किये गये उपकार को सहन करना क्षमा धर्म है।

कोपः करोति पितृ मातृ सुहृज्जनाना-
मप्य प्रियत्वमुप कारि जनापकारं।
देह क्षयं प्रकृत कार्य विनाशनं च,
मत्वेति कोपवशिनं न भवन्ति भव्याः ॥

क्रोध करने वाले के माता पिता और भाई बन्धु आदि अप्रिय हो जाते हैं। क्रोधी उपकारी के उपकार को भूल जाता है। शरीर कृश होता है एवं प्रयोजन भूत कार्य नष्ट हो जाते हैं। ऐसा मानकर भव्य जीव क्रोध के वशीभूत नहीं होते हैं क्रोध अज्ञानता से प्रारम्भ होता है और पश्चाताप पर समाप्त होता है।

लोकद्वय विनाशाय, पापाय नरकाय च।
स्वपर स्थापकाराय, क्रोधः शत्रु शरीरिणाम् ॥

क्रोध रूपी शत्रु जीवों के इहलोक और परलोक दोनों ही नष्ट कर देता है, पापोत्पादक है। नरक ले जाने वाला है तथा अपकार को करने वाला है।

क्षमा व शान्ति आत्मा का स्वभाव है। अशान्ति व

प्रतिकूलता का निमित्त होने पर आत्म स्वभाव से च्युत (पतन) न होना उत्तम क्षमा है। अथवा अपनी भूल देखकर कर्म का उदय देखकर, परिणाम में हानि देखकर, समर्थ होते हुए भी दूसरों को क्षमा कर देना अथवा क्षमा मांग लेना क्षमा धर्म है। क्रोध व तनाव से कभी समझौता नहीं होता। सदा शान्ति व प्रेम से ही समस्यायें सुलझती हैं। क्रोधी पहले अपनी हानि करता है अतः क्षमा करने वाला महान है। क्रोध रूप मनोविकार उत्पन्न न होने देना क्षमा धर्म है।

क्रोधी सूखता जाता है। जब मनुष्य क्रुद्ध हो जाता है तब उसका मुँह तमतमा जाता है। आँखें लाल हो जाती हैं। साँसें जल्दी जल्दी चलने लगती हैं और शरीर भी कांपने लगता है। जिसमें सहन शक्ति नहीं है वही व्यक्ति आपे से बाहर हो जाता है परन्तु जो गम्भीर है, जिसके माथे में शक्ति और तन में बल है वह छोटी छोटी बातों पर कभी क्रोध नहीं करते। क्रोधी मनुष्य सब को बैरी बना लेता है और हमेशा अपनी हानि करता रहता है क्रोध एक नशा है जैसे मद को पीकर मनुष्य पागल हो जाता है उसी तरह क्रोध में भी मनुष्य पागल हो जाता है। उसकी बुद्धि विवेक शून्य हो जाता है। उसे अपना पराया कुछ भी नहीं सूझता। बात ही बात में अनर्थ कर डालता है। क्रोधी पुरुष क्रोध के शान्त होने पर स्वयं लज्जित हो जाता है।

साथ ही साथ क्रोध के आने पर कोक बुरा काम हो जाय तो उसे अपनी करनी पर पछताना पडता है। व्यापार

हैं क्रोधी मनुष्य बहुत कम सफल होते हैं। जो दूसरों की सेवा में लगे रहते हैं उन्हें तो क्रोध होना ही नहीं चाहिए क्योंकि न तो वह अपने मालिक को प्रसन्न रख सकता है और न अपने साथियों से मेल जोल रख सकता है। क्रोध करना बुरा है। यह क्रोध सब जगह निरादर करवाता है। क्रोध से सब काम बिगड़ जाते हैं। क्रोध न करने से मनुष्य की शोभा होती है। संसार में यदि किसी को मनुष्य बनना हो तो वह क्रोध कदापि न करे।

यदि कभी क्रोध आ भी जाय तो उसे धैर्य और चतुराई से टाल देवे उससे मानवता की रक्षा हो जायेगी। संसार में प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह क्रोध कभी नहीं करे क्योंकि क्रोधी कभी आदरणीय नहीं होता। क्रोध एक प्रकार की अग्नि है। इससे यह शरीर जलता रहता है जैसे लकड़ी अग्नि में जल जाती है।

एक बार कुछ उद्दण्ड लोग बुद्ध को काफी गालियाँ दे चुके तो गौतम बुद्ध हंसते हुए बोले-भद्र यह तो बताओ यदि कोई दाता दान करे और उसे भिक्षु न ले तो वह वस्तु किसके पास रहेगी-"दाता के पास" ऐसी बात है तो तुम मुझे गालियाँ दे रहे हो मैं नहीं लेना चाहता। क्रोध मस्तिष्क के दीप को बुझा देता है अतएव किसी महत्वपूर्ण परीक्षा में हमें सदैव शान्त व स्थिर होना चाहिए 'क्रोधी मुर्दा ही है।'

एक बार युद्ध स्थल में रावण निरन्त दुर्वचन बोल रहा था वाणी की मर्यादायें खण्डित होती जा रहीं थीं पर श्रीराम शान्त भाव से खड़े थे। विभीषण से रहा न गया वे विनम्र

भाव से निवेदन करने लगे–भगवन् ! आप शस्त्र प्रहार क्यों नहीं करते ? श्रीराम ने कहा "क्षत्रिय मृतक पर शस्त्र प्रहार नहीं करते" लेकिन रावण तो जीवित है भगवन् विभीषण ने उत्तर दिया ।

"आक्रोश, आवेग–आबद्ध मानव और मृतक में अन्तर नहीं होता क्योंकि उस समय भी मानव मृतक के समान ही ज्ञान एवं विवेक शून्य हो जाता है" श्रीराम ने मुस्कराते हुए जवाब दिया ।

क्षमा मजबूरी और निर्बलता से नहीं बल्कि शक्ति और वीरता से उत्पन्न होती है इसलिये कहा है कि "क्षमा वीरस्य भूषणम्" जो सबकी आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझते हैं वे ही क्षमा भाव रखते हैं । जो सब प्राणियों के प्रति मित्र भाव रखते हैं वे ही क्षमा भाव रखते हैं । जिनके हृदय में करुणा और प्रेम की धारा बहती है, वे ही क्षमा भाव रखते हैं । वे ही बैर और क्रोध की अग्नि में झुलसने से बचे रहते हैं । उनका मन आनन्दित और स्वस्थ्य रहता है । वे जीवन में सुखी और पुरुषार्थ में सफल होते हैं और समाज में लोकप्रियता और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं । जब मनुष्य अपने अमूल्य समय को बैर भाव और शत्रुता की उधेड़ बुन त्यागकर सृजनात्मक कार्यों में लग जाता है तो आत्म कल्याण कर लेता है ।

सब जीवों से क्षमा भाव चाहती हूं, सब जीव मुझे भी क्षमा करें । मेरी सब जीवों से मित्रता रहे और मेरा किसी भी जीव से बैर भाव न हो इस प्रकार सम्बोधन करती हुई

और बार बार क्षमा याचना के बाद श्री महावीर स्वामी के साम्निध्य में जाकर चन्दन बाला ने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण कर स्वर्ग में जाकर देव पर्याय प्राप्त की।

क्षमाबलमशक्तानां, शक्तानां भूषणं क्षमा।
क्षमावशीकृतेलोके, क्षमया किं न सिध्यति ॥

क्षमा असमर्थों को बल देने वाली और समर्थ जनों का भूषण है। क्षमा के द्वारा संसार वश में कर लिया जा सकता है। क्षमा से क्या क्या सिद्ध नहीं होता।

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवाखम्मंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केणवि ॥

मैं समस्त जीवों को क्षमा करता हूँ, सब प्राणी मुझे क्षमा करें। संसार के समस्त प्राणियों से मेरा मैत्री भाव रहे, किसी से बैर विरोध नहीं है।

श्रेष्ठि पुत्र सुकुमाल इतने वैभव सम्पन्न थे कि राजा के सुख भोग उनके सामने फीके थे। सुवासित तन्दुलों का जो आहार करते थे। रत्नों की ज्योति में जो रहते थे अतः दीपक की ज्योति से भी जिनकी आँखें डबडबा जाती थी बत्तीस विश्व सुन्दरी पत्नियों के मृदु स्पर्श का जो सुख भोग करता था। वही सुकुमार सुकुमाल अर्द्ध रात्रि गये अपने मातुल मुनि के मुख से निरस्मृत द्वादशानुप्रेक्षाओं के पाठ को श्रवण कर विरक्त हुए और पत्नियों की साड़ियों की रस्सी बनाकर विशाल अट्टालिका से भूमि पर उतर गये। और मामा के पास पहुँच गये।

निमित्त ज्ञानी मातुल मुनि ने उन्हें प्रबोध किया कि "तेरी आयु मात्र तीन दिवस की शेष रह गई है। तूने आत्म कल्याण का निश्चय कर बड़ा भला काम किया है।" कहना ही था कि जैनेश्वरी मुनि दीक्षा अंगीकार कर अध्यात्मा सुकुमार सुकुमाल वह अज्ञात जंगल का पथिक बन गया।

ऊबड़ खाबड़ कंटकाकीर्ण दुर्गम पंथ पर सुकुमार पथिक आत्मा में जागृत और शरीर से बेखबर था। चरण लहु लुहान हो रहे थे। वह निर्जन वन में कायोत्सर्ग हो समाधि में लीन था। कि उसकी पूर्व जन्म की भाभी जो आर्त रौद्र परिणाम से मरकर श्यालिनी हुई थी। सुकुमाल के पद-रक्त को चाटती हुई बच्चों के साथ उसी स्थान पर आ गई जहाँ पर नव दीक्षित मुनिराज सुकुमाल जी ध्यान लीन खड़े थे।

उन्हें देखकर उसे पूर्व जन्म का बैर स्मरण हो गया और यह सोचकर कि इसने मुझे लात मारकर अनादर किया था इसकी लात ही खाऊँ। वह अपने बच्चों के साथ पैर भक्षण करने लगी। महान क्षमाशील सुकुमाल मुनि अपने ध्यानमें अविचल रहे, परिणाम स्वरूप सन्यास मरण कर सर्वार्थ सिद्धि में जा पहुँचे। जहाँ से एक भव धारण कर मोक्ष जायेंगे। ऐसी भद्रात्मा के चरणारविन्दों में हार्दिक श्रद्धांजलि।

ओह, मोह ममता प्राणी को कितना विवेक शून्य बना देती है? 'दिगम्बर मुनिराजों को देख, उनका उपदेश सुनकर कहीं मेरा पुत्र भी साधु न बन जाए' इस ममत्व भरी आशंका से राजमाता यशोदेवी ने आहार हेतु नगर प्रवेश करते हुए

दिगम्बर जैन मुनियों को सैनिकों द्वारा बाहर निकलवा दिया। क्षमाशील मुनिराजों को मान अपमानों से क्या प्रयोजन ? वे समता से कर्मों की निर्जरा करते हुए अरण्य के उर स्थल में ध्यान लीन हो गये।

राजमहल की छत से वह सकरुण दृश्य देख रही थी वयस्तलता माता जिसने कौशलाधिप सुकौशल को शिशुवय से वयस्कावस्था तक पाला पोषा था। वह दहाड़ मारकर रो पड़ी। जिसे सुनकर सुकौशल जी आ उपस्थित हुए और साग्रह रोने का कारण पूछा। जिसके इंगित पर इस राज भवन में अतिथि मात्र का स्वागत होता था। जो इस नगर का अधिपति था, जिसको प्राणनाथ कह राजमाता प्रमोद मानती थी, जिसकी भ्रकुटि भंगिमा से अरिदल कांपता हुआ हतप्रभ होकर नत मस्तक होता था, जिसकी कीर्ति से दिग-दिगन्त रंजित था, आज वही सत्पात्र महाराजाधिराज कीर्तिधर सैनिकों द्वारा खदेड़े गये और वह भी पत्नी के इशारे पर।

विधि की इस विडम्बना पर मन मार्मिक वेदना से विदीर्ण है। मेरे लाल ! मैं तो भावातिरेक से संचालित ही हूं कहीं तुम भी इससे खेद खिन्न न होना। मां तुमने मेरे अन्तर्द्वन्द खोल दिये। मुझे पितृ दर्शन की वह प्यास जगी कि बिना इसके शमन किये चैन कहाँ ? और वे चल दिये, अरण्य की ओर पूछते पूछते गन्तव्य स्थल पर पहुँचकर निर्निमेष दृग से अपने पिता श्री वीतरागी मुनिराज कीर्तिधर की प्रशान्त

रूप माधुरी का रसपान कर उनके पाद पद्मों में निमग्न हो गये।

उनके श्रीमुख से शब्द निकल रहे थे वह वह अधम नराधिप है जिसके शासन काल में पवित्रात्माओं, दिगम्बर मुनिराजोंकी अवहेलना ही नहीं, तिरस्कार भी हुआ। सूर्यवंश कीअतिथि–सत्कार की परंपरा का विछिन्न होना कुल कलंक है किन्तु यह दुष्कर्म मेरी मां ने मोह–ममता में अन्धे होकर किया है। किन्तु क्षमा मूर्ति ! क्षमा कीजिए किन्तु मुनिराज अब भी प्रशम मुद्रा में थे। आहार का अन्तराय हो जाने पर भी किंचित मात्र भी उद्वेलित नहीं हुए।

सुकौशल पर आलोचना के क्षणों में, मुनिराज की की क्षमा का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने तत्काल ही कीर्तिधर मुनिराज से स्वर्ग मोक्ष प्रसाधिका जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। वे भी वीतरागी मोक्ष मार्ग के पथिक बन गए। राजमाता सहदेवी ने जब सब वृतान्त जाना तो वह आर्त रौद्र परिणामों से (कारण) संचालित हो गई। यहाँ तक कि उसका उसी दशा में प्राणान्त हो गया और मरकर दुर्विचारों के कारण नाहरी (शेरनी) बन गई।

कर्मों की लीला बड़ी विचित्र है। मानवी शेरनी में परिणत हो गई। एक चातुर्मास में मेल वन श्मशान में पिता पुत्र अब उभय मुनियों ने चार माह का उपवास कर तपस्या की। चार मासोपरान्त जब वे आहार के लिए ईर्या पथ शोधते हुए नगरोन्मुखी हुवे तो कर्म के संयोग से शेरनी का साक्षात्कार हो गया। पूर्व संस्कार वशात् वह इन्हें देखते

ही कुपित हो गई। सुकौशल महाराज उपसर्ग समझकर तत्काल ही समाधि में लीन हो गए। वह उन पर टूट पड़ी और अपने तेज नाखूनों से उनकी कोमल काया को विदीर्ण किया।

निमित्त ज्ञान से कीर्तिधर मुनिराज ने यह जानकर कि यह पूर्व भव की सुकौशल की माता है, उसे प्रबोध दिया। उस समय सुकौशल रंचमात्र भी उपसर्ग में डिगे नहीं। क्रोध के आवेग का तो नाम निशान तक नहीं, उनका ध्यान, शुक्ल से शुक्लतर होता गया फलतः केवल्य ज्ञान की परम ज्योति से अलंकृत हुए। चतुर निकाय के देव ज्ञानोत्सव मनाने आ गये। प्रतिशोध से चालित शेरनी अब परिताप की वह्नि में दग्ध हो रही थी। उसका भी सुधार हुआ। कुछ कालोपरान्त कीतिधर मुनि महाराज भी कैवल्य लक्ष्मी से विभूषित हो मोक्ष पधारे।

आज से २५०० वर्ष पूर्व की बात है कि बिहार प्रान्त में राजगृही नगरी में महाराज श्रेणिक राज्य करते थे। इनका दूसरा नाम बिम्बसार भी था। इनकी रानी का नाम चेलना था। श्रेणिक बौद्ध धर्म के भक्त थे परन्तु इनकी रानी चेलना जैन धर्म की भक्त थी।

उसी समय राजगृही नगरी के पास वन या गुफाओं में अपने आत्म स्वभाव का अनुभव करने वाले श्री यशोधर मुनिराज आत्म ध्यान और अध्ययन मनन में लीन रहते थे। आहार लेने के लिए कभी कभी नगर में जाते थे। बाकी वन या पर्वत की गुफाओं स्व स्वरुप में विश्राम करते थे।

एक दिन महाराज श्रेणिक वन में क्रीड़ा कर रहे थे कि उनकी एक परम शान्त दिगम्बर मुनिराज ध्यान करते हुए

दिखाई दिये। श्री मुनिराजको देखकर उनका धर्म द्वेष भड़क उठा। उन्होंने शिकारी कुत्ते मुनिराज के ऊपर छोड़ दिये। कुत्ते मुनिराज के पास पहुँचकर बिल्कुल शान्त हो गये। राजा श्रेणिक ने जब यह दृश्य देखा तो वह क्रोध से और भी लाल हो गये। उन्होंने तलवार निकालकर मुनिवर को मारना चाहा। इतने में ही उन्हें एक काला भुजंग सर्प फुन-कार मारता दिखाई दिया। उन्होंने उस सर्प को मारकर मुनिराज यशोधर के गले में डाल दिया। इन्हीं क्रूर परिणामों से उनको सातवें नरक का बन्ध हुआ।

मुनिराज तो ध्यान में मग्न थे चौथे दिन वार्तालाप के सिलसिले में उन्होंने रानी चेलना से श्री मुनिराज के गले में सर्प डालने की बात कही। यह सुनते ही रानी बिलाप करके रोने लगी। उन्हें हार्दिक कष्ट हुआ। इससे श्रेणिक भी कुछ पिघल आये। उन्होंने कहा कि चेलने! इतनी क्यों दुखी हो रही हो? उन्होंने उसे कभी का निकाल कर फेंक दिया होगा चेलना ने कहा दिगम्बर मुनि ऐसा कभी नहीं कर सकते।

यह सुनकर राजा को विश्वास नहीं हुआ, वे विश्वास करने के लिये रानी चेलना के साथ वन में मुनिराज के पास चल दिये, वहाँ जाकर देखते हैं कि मुनिराज के गले में सर्प वैसा ही पड़ा है,हजारों चीटियां उनके शरीर पर चढ़ गई हैं। मुनिराज ध्यान में तल्लीन हैं। तब चेलना ने सर्प निकाल-कर दूर किया। मुनिराज यशोधर ने उपसर्ग दूर हुआ देख-कर ध्यान छोड़ा।

मुनिराज के ध्यान छोड़ते ही श्रेणिक और चेलना ने

उनके चरणों में नमस्कार किया। मुनिराज ने दोनों को समान रूप से शुभाशीष दिया 'तुम दोनों की धर्म वृद्धि हो" मुनिराज जी द्वारा इस समता भाव को देखकर राजा पानी पानी हो गया। उन्होंने मुनिराज के चरणों में गिरकर अपने अपराधों की क्षमा मांगी।

मुनिराज ने कहा राजन ! क्षमा तो अपनी आत्मा से मांगो जो राग द्वेषादि विकार भाव करके आत्मा के सद्‌गुणों का घात कर रही है। इस घटना से प्रभावित होकर श्रेणिक महाराज ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। और उन्होंने श्री महावीर स्वामी के पादमूल में क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की। साठ हजार प्रश्नोत्तर श्री भगवान महावीर स्वामी से श्री श्रेणिक सम्राट ने किये'।

क्षमा शतक

सुर नर पशु के क्रोध से, बहुत उपद्रव होय।
क्षमा धरें जो मुनि सहें, तिन्हें नमूँ कर दोय ॥१॥
क्षमा बराबर तप नहीं, क्षमा धर्म आधार।
ज्ञानी का भूषण क्षमा, क्रोध विनाशन हार ॥२॥
क्रोध समान न शत्रु है, क्षमा समान न मित्र।
निन्दा समान न ग्लानि है, प्रभु पद सम न पवित्र ॥३॥
वह क्रोधी मृत तुल्य है, जिसे न निज का भान।
पर त्यागी उस क्रोध का, होता सन्त समान ॥४॥
निज घातक क्रोधी बने, भस्म होय सब देह।
क्या पावेगा धर्म वह, जर जर होता देह ॥५॥

महा भयंकर क्रोध के, होते हैं परिणाम ।
वसुधा में जितने हुए, बड़े बड़े संग्राम ॥६॥
काम क्रोध मद लोभ के, हिय के अन्धे चार ।
नयन अन्ध इनसे भले, करें न पर अपकार ॥७॥
अपकारी से नहीं बचे, व्यर्थ न करिये क्रोध ।
छोड़े क्रोध स्वभाव को, बुद्धिमान नर सोध ॥८॥
क्रोध प्रीति नाशक कही, दुर्गति वर्द्धक क्रोध ।
निज-पर को परिताप दे, दुख पहुँचावे क्रोध ॥९॥
कामी क्रोधी कृपण खल, भिक्षुक व्यसनी जान ।
इनके हृदय दया नहिं, हो कितनी ही हानि ॥१०॥
निज जन ही यदि क्रुद्ध हो, स्वयं करें विद्रोह ।
जीवन के लाले पड़ें, बढ़त विपद सन्दोह ॥११॥
निद्रा जड़ता क्रोध भय, आलस दीर्घ विचार ।
जो सम्पत्ति चाहो सदा, ये षट दूर निवार ॥१२॥
क्रोधी अभिमानी हठी, अप्रिय बोले बैन ।
पर का कहा न मानते, मूर्ख कहावे येन ॥१३॥
क्रोध तुल्य रिपु कौन जो, कर दे सर्व विनास ।
हर्ष और आनन्द को, वह है यम का पाश ॥१४॥
क्रोध पाप का मूल है, क्रोध आप ही पाप ।
क्रोध मिटे बिन ना मिटे, कबहुं जीव सन्ताप ॥१५॥
क्रोध मान माया धरत, लोभ सहित परिणाम ।
ये ही तेरे शत्रु हैं, समझो आतम राम ॥१६॥
क्रोध बिना शोभित यती, लोभ बिना महिपाल ।
गुण विहीन शोभित नहीं, कवि बुधजन अरु बाल ॥१७॥

क्रोध प्रीति नाशक कही, मान विनय का नाश ।
माया नाशै मैत्रि को, करे लोभ गुण नाश ॥१८॥
क्रोधी नर को सुख नहीं, मानेच्छुक को शोक ।
मायावी विकथा लगा, लोभी तृष्णा थोक ॥१९॥
क्रोधाग्नि हृदये जले, नाशत सारी देह ।
तू क्या खोजत धर्म को, वह तो होता खेह ॥२०॥
निज शुभ की यदि कामना, क्रोध करो तुम दूर ।
टूटेगा वह अन्यथा, कर देगा सब धूर ॥२१॥
क्रोध पाप को मूल है, और पाप सब तुच्छ ।
बिना द्वेष और ईर्ष्या, होता अंग सब कुच्छ ॥२२॥
बैरी और न कै तई, लेय जान कर प्राण ।
निज घातक क्रोधी बना, वह मूरख अनजान ॥२३॥
क्रोध भयंकर अति बुरा, समझो इसको आप।
मिनटों में झक मारता, गिनै न माँ अरु बाप ॥२४॥
निश्चय कर जानो सभी, क्रोध पाप को मूल ।
इसके ही आधीन नर, सहत महा दुख शूल ॥२५॥
निधि सम मन में कोप को, रक्षित रखता आप ।
भू पर वह कर मारकर, पागल करे प्रलाप ॥२६॥
आग जलावत नित उसे, जो जाता है पास ।
करत समस्त कुटुम्ब का, पर क्रोधाग्नि विनाश ॥२७॥
इच्छायें उसकी सभी, फलें सदा भरपूर ।
जिसने अपने चित्त से, कोप किया अति दूर ॥२८॥
कटुक वचन के सुनत ही, जिसे न आवे क्रोध ।
सच्चा है ज्ञानी वही, हुआ उसी को बोध ॥२९॥

काम क्रोध मद लोभ की, लगी हृदय में आग ।
'नारायण' तिन श्रवण से, भवन भले हैं नाग ॥३०॥
काम बिगाड़े भक्ति को, ज्ञान बिगाड़े क्रोध ।
लोभ विराग बिगाड़ दे, मोह बिगाड़े बोध ॥३१॥
जो तोकूं काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल ।
तोकूं फूल के फूल हैं, वाको है तिरशूल ॥३२॥
वन में लागी आग जब, भागे पशु ले प्राण ।
क्रोधी जिय वैसे तजे, बुद्धि विवेक सज्ञान ॥३३॥
तन का नगर सुहावना, दया धर्म का देश ।
आग लगी जर बर गया, शीतलता नहिं लेश ॥३४॥
मूरख से नहिं उरझिये, ज्ञानी से नहीं बैर ।
शान्त भाव से कीजिये, या दुनियां की सैर ॥३५॥

क्रोध प्रमुख नर का रिपु, करता तन यश नाश ।
अग्नि छिपि ज्यों काष्ठ में, करती काष्ठ विनाश ॥३६॥
क्रोध प्रमुख नर का रिपु, क्रोध नरक दातार ।
उभयलोक दुखकर तथा, अति निन्दा करतार ॥३७॥
आता तन में क्रोध जब, हित अनहित न दिखाय ।
मार सुत रक्षक नकुल को, विप्रा ज्यों पछताय ॥३८॥
भूप देव आतुर गुरु, बाल वृद्ध पितु जान ।
भूल कभी इनसे करो, क्रोध नहीं श्रीमान् ॥३९॥
क्रोधी लोभी, क्षुब्ध को, विपदा होय न दूर ।
ये तीनों जाते जहाँ, सहे दुक्ख भरपूर ॥४०॥

कुपित कृतघ्नी को नहीं, निजहित अहित दिखाय ।
ये इस भव परलोक में, सदा दुक्ख ही पाँय ॥४१॥

सन्त कोप जब मन धरें, होता बंटाढार ।
द्वीपायन के कोप से, भई द्वारिका क्षार ॥४२॥
पाप किये से धन नशे, रोग औषधि खाय ।
तिया भोग से बल घटे, रोष मनहिं समझाय ॥४३॥
भलो होय नहिं मारबो, काहू को जग माहिं ।
भलो मारबो क्रोध को, या सम रिपु जग नाहिं ॥४४॥
ये हिंसा के भेद हैं, चोर चुगल व्यभिचार ।
क्रोधकपट मद लोभ पुनि, आरंभ असत विचार ॥४५॥
'रहिमन' रिस को छोडिके, धरो गरीबी भेप ।
मीठे बोलत तुम चलो, सभी तुम्हारो देश ॥४६॥
रोष मिटत कैसे कहत, रिस उपजावन बात ।
ईंधन डारे आग में, कैसे आग बुझात ॥४७॥
कम ताकत गुस्सा अधिक, वे जल्दी मिट जात ।
आय कमी, खरचा अधिक, तुरत फुरत नश जात ॥४८॥
दशों दिशा में क्रोध की, उठी अपूरब आग ।
शीतल संगति साधु की, तहाँ उबरिये भाग ॥४९॥
हो जाता जब मनुज पर, क्रोध भूत असवार ।
आँख बन्द होती तभी, खुलता मुख का द्वार ॥५०॥
नीति अनीति लखे नहीं, लखे न आप बिगार ।
पर जारे आपन जरे, क्रोध-अग्नि कर क्षार ॥५१॥
क्रोध शत्रु अति ही बुरा, मूरख करते क्रोध ।
पश्चाताप जब होत है, करे आत्म में शोध ॥५२॥
गारी क्रोधावेश में, कभी न देना तात ।
प्रभाव उसका अति बुरा, हिय में चुभती बात ॥५३॥

गारी देते एक है, पलटत होय अनेक ।
जो गारी पलटै नहीं, वही एक की एक ॥५४॥
बिना किये अपराध भी. रिपु बनता है काल ।
गारी देती जीभ है, मुँह बनता है लाल ॥५५॥
गारी क्षमवत गुण घना, गारी देते दोष ।
उसको मिलता नर्क है, तुझे मिलेगा मोक्ष ॥५६॥
गारी से सब ऊपजै, कलह कष्ट औ मीच ।
हार चले सो सन्त हैं, लाग मरे सो नीच ॥५७॥
गारी दे गुस्सा करे, ये ओछों के काम ।
धीरे से समझाय दे, इसमें लगे न दाम ॥५८॥
गारी होय महाबुरी, लगे बाण सी तात ।
सदा न खटके बात पर, गारी-दुख दिन रात ॥५९॥
गारी खाय आशीष दे, वे हैं उत्तम श्रेष्ठ।
खारो जल बादल गह्यो, बरसायो पुनि मिष्ठ ॥६०॥
गार अंगारा क्रोध झल, निन्दा धूँआ होय ।
इन तीनों को छोड़ दे, साधु कहावे सोय ॥६१॥
'नारायण' दुर्वचन को, कौन सुने हरषाय ।
खोटा सिक्का जाहि दो, वही देत लौटाय ॥६२॥
क्षमा खड्ग लीने रहे, खल को कहा बसाय ।
अग्नि परै तृण रहित थल, आपुहि से बुझ जाय ॥६३॥
क्षमा तुल्य कोई तप नहीं, सुख सन्तोष समान ।
नहिं तृष्णा सम व्याधि है, धर्म समान न आन ॥६४॥
सीता त्यागी राम ने, बिना लखे ही दोष ।
गई दोष लख जगत के, घर तज वह बिन रोष ॥६५॥

क्षमा शील जब ऊपजे, अलख दृष्टि तब होय।
बिना शील पहुँचे नहीं, कोटि कहे जो कोय ॥६६॥
क्षमा रहित जो क्रूर नृप, बोले वचन अनिष्ट।
बढ़ा चढ़ा उनका विभव, होगा शीघ्र विनिष्ठ ॥६७॥
क्षमा काम सबसे बड़ा, जिसे न जीते क्रोध।
आपा-पर शीतल करें, औरन देय प्रबोध ॥६८॥
क्षमा युक्त हो शूरता, त्याग सहित धनवान।
मधुर वचन युत दान दो, गर्व रहित हो ज्ञान ॥६९॥
जहं आपा तहं आपदा, जहाँ शोक तहं पाप।
जहां दया तहं धर्म है, जहाँ क्षमा तहं आप ॥७०॥
क्षमा तुल्य संसार में, करें न कोइ सहाय।
सब-भव-बाधायें हरे, शिवपुर दे पहुँचाय ॥७१॥
मित्र क्षमा सम जगता में, नहीं जीव का कोय।
अरु वैरी नहिं क्रोध सम, निश्चय जानो लोय ॥७२॥
क्षमा महा अवगुण हरे, बहु-बल भूषण जान।
वशीकरण हित कर सदा, करता कार्य महान ॥७३॥
क्षमा बड़े धारें सदा, दीन करें अन्याय।
सागर नहिं सीमा तजे, नदी बहुत बौराय ॥७४॥
क्षमा सुखों का मूल है, दया धर्म का मूल।
विद्या सम हर लेत सब, सब पापों के शूल ॥७५॥
श्रेष्ठ भवन सुख सम्पदा, शैय्या भोग महान।
क्षमा धर्म से जग मिले, इच्छित सब सामान ॥७६॥
करो क्षमा की याचना, करो क्षमा का दान।
भूल सको यदि हानि को, बढ़े और भी मान ॥७७॥

क्रोध हरे सुख शान्ति को, अन्तर प्रकटै आग ।
नैन बैन मुख बीगडे, पड़ै शील पर दाग ॥७८॥
गुरु जन परिजन प्रिय सुजन, सबसों टूटे नेह ।
पास पड़ौसी से लड़ै, बरषै कुवचन मेह ॥७९॥
मोह घटें स्मृति मिटै, होय बुद्धि को नाश ।
लोक और परलोक में, दुक्ख को होय प्रकाश ॥८०॥
जलता वह ही आग में, जो हो उसके पास ।
क्रोधी का तो वंश भी, जलता बिना प्रयास ॥८१॥
क्षमा शास्त्र से क्रोध को, करे सफल प्रतिकार ।
सो सब सुख साधन लहै, सहज होय भव पार ॥८२॥
विपति परे धीरज धरे, सम्पत्ति में निर्गर्व ।
होय समर्थ क्षमा करें, ऐसे होत न सर्व ॥८३॥
सामाजिक व धार्मिक, कार्य वही कर पाय ।
धरते धरती सी क्षिमा, सभी कष्ट सह जाँय ॥८४॥
पृथ्वी से सीखो क्षमा, नभ से दान उदार ।
बदला दीजे आम सा, पिक से वचन उचार ॥८५॥
दुर्जन जन को मुख धनुष, कुवचन पैने वान ।
क्षमा खडग से बेड़िये, ये सद्गुरु का ज्ञान ॥८६॥
दोष बडे अति दण्ड की, शक्ति रहे निज माहिं ।
दण्ड न दे छमि दोष सब, उलटे सुख दे ताहिं ॥८७॥
जो मूरख निन्दा करे, बुधजन की नहिं हानि ।
रवि पर धूर उड़ाइये, परे आप पर आनि ॥८८॥
क्षमा वही पहिचानिये, जामें क्रोध न होय ।
छिपे सहज अपराध सब, करे भलाई जोय ॥८९॥

'सहजो' क्रोधि अति बुरो, उल्टी समझे बात ।
सब ही सों ऐंठो रहें, करें वचन की घात ॥९०॥
कूकर ज्यों भोंकत रहे, तामस मिलवो बोल ।
घर-बाहर दुख रूप है, बुंधिहु डावा डोल ॥९१॥
जाके मन उपजै प्रपम, ताहि जरावे जोर ।
मुख से भडभड नीसरे, दुख उपजै चहुँ ओर ॥९२॥
कोपादिक अरु जोर से, साधु सन्त दिगजात ।
तो साधारण मनुज की, क्या कहना है बात ॥९३॥
क्षमा पुण्य को मूल है, क्षमा सर्व गुण खान ।
जाके हिय होती क्षमा, ता संग दे भगवान ॥९४॥
दुर्बल को बल है क्षमा, सबल सुभूषण जान ।
क्षमा वशीकरण मन्त्र से, काम सिद्ध सब जान ॥९५॥
गृह त्यागी ऋषि वर्ग से, उनकी ज्योति अपार ।
सहते हैं जो शान्ति से, दुर्जन वाकप्रहार ॥९६॥
क्षमा से क्षय होत है, पूर्वोपार्जित कर्म ।
शुद्ध होत है चित्त भी, रक्षित रहता धर्म ॥९७॥
अन्तर बाहिर रिपु नहीं, क्षमावान के होय ।
जैसे निर्मल नीर में, कीच कहाँ से होय ॥९८॥
आमद लखि, खरचै अलप, ते सुखिया संसार ।
बिन आमद खरचै घनो, सहैं गार अरु मार ॥९९॥
तप करते हैं भूख सह, ऋषि भी उच्च महान ।
क्षमाशील के बाद ही, पर उनका सम्मान ॥१००॥

—०—०

उत्तम मार्दव

अहंकार पर विजय प्राप्त करना एवं अन्तर बाह्य नम्रता धारण करना उत्तम मार्दव धर्म है। कुल, जाति, रूप, ज्ञान, ध्यान, तप, कीर्ति एवं शक्ति के गर्व रहित बहिर्दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाकर आत्म गुणों के प्रति निष्ठा से पूरित हृदय-कमल से सुशोभित श्रमण (श्री मुनिराज) के उत्तम मार्दव धर्म पूर्ण रूप में आचरित होता है।

ध्यानस्थ बाहुबली के चरणों में जाकर भरत चक्रवर्ति ने पूजन किया तो भी बाहुबली ने गर्व न करके निज ध्यान में तत्पर होकर तत्क्षण ही केवल ज्ञान उपजाया। निर्मल भेद ज्ञान से जिसने सारे जगत को अपने में भिन्न स्वप्नवत देख लिया है और जो आत्म भावना में तत्पर है उनको जगत के किसी पदार्थ में गर्व का अवकाश ही कहाँ है? रत्नत्रय की आराधना में ही जिनका चित्त तत्पर है ऐसे मुनिराज को चक्रवर्ती नमस्कार करे तो भी मान नहीं होता और कोई तिरस्कार करे तो दीनता भी नहीं होती।

पंचपरमेष्ठि आदि धर्मात्मा गुणी जनों के प्रति सम्मान पूर्वक विनय करना भी मृदोर्भावः इति मार्दवम् अर्थात मृदु (नम्र) भावों का होना ही मार्दव धर्म कहलाता है। जिसका अर्थ कोमल (सरल) परिणाम रखना है तथा मान (अभिमान) नहीं करना अर्थात विनय रूप नम्र परिणाम रखना है।

विनय भाव से लौकिक-पारलौकिक सभी कार्य सिद्ध होते हैं। इस मार्दव धर्म के धारण करने से परिणामोंमें महान

मृदुता रहती है जिससे वह पाप कर्मों से बचकर पुण्य कर्म का बन्ध करता है। इसी अभिप्राय से तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ में सूत्र नं. १८ 'स्वभाव मार्दवं च' अर्थात् स्वभाव से मृदु कोमल परिणामों के रखने से मनुष्यायु के आश्रव का कारण कहा है। मनुष्य भव का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। मनुष्य भव को पाकर मार्दव धर्म पालन कर अपना नरभव सफल करना चाहिए।

मान करने से हानि के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं होता। अभिमानी मनुज में चाहे जितने गुण हों, उसे देख कोई स्नेह नहीं करता परन्तु उनके गुण भी अवगुण की तरह देखे जाते हैं इसलिए ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, धन, तप, शरीर की सुन्दरता सम्बन्धी आठ मद नहीं करना चाहिए।

क्षण में राजा, क्षण में रंक। सदा बदलते विधि के अंक।
ऐसा विचार कर मार्दव धर्म का पालन करते हुए मान का त्याग करते हुए विनय रूप नम्र परिणाम रखना चाहिए।

विद्या ददाति विनयं, विनयात याति पात्रताम्।

अर्थात् विद्या पढ़ने से विनय आती है। विनय आने आने से योग्यता आती है। बिना आधार के आधेय नहीं टिक सकता। जिस प्रकार वृक्ष आदि के लिए पृथ्वी आधार भूत है उसी प्रकार समस्त गुणों की आधार भूमिका मृदुता अर्थात् विनय शीलता है। विनयशीलता के अभाव में कोई भी गुण नहीं रह सकता।

विद्या ग्रहण करने में विनय की और विद्या देने में

प्रेम की आवश्यकता रहती है। यह विनय गुण मान कषाय के अभाव में ही होता है अभिमानी के नहीं। विनय भाव सीखना चाहिए जो कार्य अन्य कठिन उपायों द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है, वह विनय नम्रता के द्वारा सहज में सिद्ध हो जाता है अतएव अभिमान को छोड़कर विनय गुण ग्रहण करना परमावश्यकीय है।

जिस विनय गुण को सोलह कारण भावना की दूसरी भावना में कहा है। बारह तपों से अभ्यन्तर तप में ग्रहण किया है और दशलक्षण धर्म में मार्दव को धर्म कहकर ग्रहण किया है विनय से मनुष्य को सर्वत्र कीर्ति होती है। गुणों की शोभा विनय गुण से ही होती है।

मानी पुरुष का चित्त सदा खिन्न रहता है। क्योंकि वह सदा सबसे सम्मान चाहता है और ऐसा होना असंभव है। इसलिये निरन्तर सबको अपने से बड़ों की सदा विनय सम्मान तथा छोटों से करुणा भाव का वर्ताव करना चाहिए।

भरत चक्रवर्ती छह खण्डों की विजय प्राप्त करके वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम अङ्कित करने जब गये तब उन्हें अभिमान हो रहा था कि मै ही एक ऐसा प्रथम चक्रवर्ती हूँ जिसका नाम पर्वत पर सबसे शिरोमणि होगा किन्तु पर्वत पर पहुँचते ही उनका गर्व गलित हो गया। जब उन्होंने देखा कि यहाँ तो नाम लिखने तक को स्थान नहीं है। न जाने कितने और चक्रवर्ती पूर्व काल में यहां नामाँकित कर गये हैं। तब लाचार होकर उन्हें एक नाम मिटाकर अपना नाम अंकित करना पड़ा।

इक इक से बढ़कर भये, पद धन युत गुणवान।
देखे उनकी ओर तो, गल जावे अभिमान॥
यो मदान्धो न जानाति, हिताहित विवेचनं।
यो पूज्येषु मदं कृत्वा श्वान गर्दभ वत भवेत॥

मान के मद से अन्धा हुआ पुरुष अपने हित और अहित का विचार नहीं करता। वह अपने पूज्य पुरुषों पर भी अहंकार करके कुत्तों और गधों के समान आचरण करते हैं। विश्व विजय का स्वप्न देखने वाला अभिमानी नेपोलियन की विजय ने यूरोप को थर्रा दिया था। कहता था कि असम्भव कुछ भी नहीं। जहाँ पहुंचा विजय ही विजय। वही नैपोलियन एक समुद्री टापू के जेल में सड़कर मरा।

मदान्ध मुसोलिनी पूरा दानव बन गया था। अपनी वायुसेना पर उसे बड़ा गर्व था। छोटे से देश अबीसीनिया पर विषैली गैस छोड़कर मनुष्यों को तड़पाकर मारने में उसे मजा आता था। वही मुसोलिनी फांसी के तख्ते पर मरा।

एक हाथ में हथकड़ी और दूसरे हाथ में बम लेकर सब देशों को अपने आधीन बनाने का स्वप्न देखने वाला हिटलर दुनियाँ से ऐसा गायब हुआ कि उसके शव का भी पता नही चला।

एक नर्तकी थी, उसकी देह में अनुपम सौन्दर्य था। जो भी उसे देखता, देखता ही रह जाता था। पर उसे अपने रूप पर अत्यधिक घमण्ड था। वह सदा दर्पण में अपना रूप निहारती रहती थी। वह गवाक्ष में बैठी हुई नगर का अवलोकन कर रही थी। उसने देखा, उसके भव्य भवन के नीचे होकर एक सन्यासी जा रहा है। जिसके शरीर के कण

कण में यौवन थिरक रहा है। सुन्दरता का साम्राज्य देखते ही बनता था।

दासी को बुलाकर नर्तकी ने कहा "उस सन्यासी को बुलाकर लाओ और कहो कि मालकिन अपने हाथ से आपको भिक्षा देना चाहती है" दासी ने दौड़कर सन्यासी को रोका। सन्यासी आया। भिक्षा पात्र लिये हुए नर्तकी के सामने खड़ा हो गया। नर्तकी काम विह्वला थी। वह हाव भाव और कटाक्ष कर सन्यासी को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करने लगी। सन्यासी नीचे नेत्र किये हुए था। उसने अपने भिक्षा पात्र में से एक सड़ा हुआ सेव निकाला, उसे उसके सामने रख दिया और उल्टे पैर लौटने लगा। नर्तकी को लगा, यह सन्यासी उसका अपमान कर रहा है। इसे अपने रूप पर घमण्ड है। दासियों को आवाज दी "देखती क्या हो इसे पकड़ लो।"

सन्यासी ने कहा–मैं कहीं पर भी भागने वाला नहीं हूँ, बोलो क्या बात है? आपने यह सड़ा-गला सेव क्यों रक्खा है? सन्यासी ने कहा देखो देवी। एक दिन सेव भी अपने सौन्दर्य से लोगों को आकर्षित करता था, परन्तु आज सड़ गया है। इसमें दुर्गन्ध पैदा हो गई है। यही स्थिति इस शरीर की है, जिस पर तुमको नाज है। यह रूप भी नष्ट हो जायेगा, यही बात बताने के लिए मैंने यह सेव तुम्हारे सामने रखा है। मैं सन्यासी हूँ।

मेरा कर्तव्य है कि भूले को मार्ग बताना। और उसे बताने के लिए ही यह उपक्रम किया है। नर्तकी के अन्तर के

नेत्र खुल गये। वह सन्यासी के चरणों में गिर पड़ी।

एक बार दशानन नित्यालोक पुर से लंका जा रहा था रास्ते में जाते समय कैलाश पर्वत पर उसका विमान रुक गया। उसने नीचे आकर देखा कि बाली मुनि तपस्या कर रहे हैं। उसने सोचा कि बाली ने बैर के कारण मेरा विमान रोका है अतः गुस्से में आकर बाली मुनि को अपशब्दों से अपमानित कर अपनी विद्याओं के बल से कैलास पर्वत को हिला दिया जिससे अनेक पक्षी मर गए तथा भरत चक्रवति के बनवाये जिन मन्दिर भी डांवाडोल होने देखकर बाली मुनि ने मन्दिर और जीवों के रक्षार्थ अपने पैर का अंगूठा पर्वत पर दबा दिया जिससे दशानन के हाथ पैर दब गए और वह रो पड़ा। यहीं से उसका रावण रोने वाला नाम पड़ गया। उसने बाली मुनि से क्षमा मांग कर मन्दिरों में भक्ति भाव से पूजा की।

एक कुष्टी नगर में एक चौराहे पर बैठा हाथ फैलाये मांग रहा था। एक नवयुवक ने दो पैसे देकर पूछा बन्धु! तुम्हारा सम्पूर्ण शरीर विगलित हो गया है। फिर क्यों कष्ट-कर जीवन की विडम्बना सहे जा रहे हो।

कुष्ठी ने उत्तर दिया मित्र! मुझे देह का बहुत अभि-मान था जिसका फल यह है। मैं इसलिए जी रहा हूँ कि मुझे देखकर मनुष्य देहाभिमान से ऊपर उठे।

दुर्योधन और रावण की वृत्ति दांत की तरह अकड़ से पूर्ण थी इसलिये वे जिन्दगी से टूट गए। आज लोग उनके नाम पर अपने बच्चे का नाम भी नहीं रखना चाहते। राम

और पाण्डवों की वृत्ति जिव्हा की तरह विनम्रता से युक्त थी जिससे वे अपनी जिन्दगी के लक्ष्यानुरूप संग्राम में सफल भी हुए। और आज उन्हें लोग श्रद्धा से याद करते हैं।

गौतम बुद्ध का एक विरोधी था जो उन्हें जोर जोर से गालियां देता था। जो बात कहने योग्य नहीं भी होती थी उसको भी कहता था। जब वह चिल्लाते चिल्लाते थक जाता तभी वह रुकता। परंतु गौतम बुद्ध कुछ नहीं कहते थे।

एक बार गौतम बुद्ध भिक्षा मांगने उसी व्यक्ति के घर गये और कहने लगे कि तुमने मुझे बहुत देना चाहा पर मैंने ग्रहण नहीं किया। अब मैं तुम्हारे दरवाजे पर भिक्षा मांगने आया हूं। गौतम बुद्ध की विनम्रता व सहनशीलता देखकर वह आदमी पानी पानी हो गया। भगवान बुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि विनम्रता मानव का सबसे बडा गुण है। यही गुण मानव को सच्ची शक्ति व सुख शान्ति देता है।

नमोऽस्तु गुरवे कुर्यात, वन्दना ब्रम्हचारिणे।
इच्छा कारं सधर्मिभ्यो, वंदामीत्यार्यिकादिशु ॥१॥
श्राद्धाः परस्परं कुर्यात्, इच्छाकारं स्वभावतः।
जुहारू रिति लोकेऽस्मिन नमस्कारं तु सज्जनः ॥२॥
योग्यायोग्य नरं दृष्टवा, कुर्वीत विनयादिकम्।
विद्या तपो गुणैः श्रेष्ठो, लघुश्चापि गुरुर्मतः ॥३॥

अर्थात दिगंबर मुनिराजों का अष्टांग नमस्कार आर्यिका तथा ब्रम्हचारी जनों को दोनों हाथ मस्तक से लगाकर शिरोनति करता हुआ वन्दना कहे, तथा सहधर्मी परस्पर में इच्छामि (इच्छाकार कहें) श्रावक जन परस्पर जुहार कहें

अथवा अपने बड़ों को प्रणाम कहें। और वे छोटे को आशीर्वाद देवें। इस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करें।

जुगादौ वृषभो देव., हारका सर्व संकटान्।
रक्षकः सर्व जीवानां, तस्मात् जुहारुच्यते॥

अर्थ जु- युग के आदि में श्री ऋषभनाथ भगवान हुए हैं। हा- जो सब संकटों को हरने वाले हैं। र- सब जीवों के रक्षक हैं। इस प्रकार जुहार शब्द में श्री ऋषभनाथ को नमस्कार किया गया है।

जो कल सीना फुलाकर और ऐंठ ऐंठ कर चलते थे। वही आज दूसरों के सहारे चलते हैं। जो माथा उठाकर चलता है उसे तूफान का सामना करना पड़ता है। लघु वृक्षों को तो देखिए तूफानों का सामना करने के लिए सदा झुके रहते हैं परन्तु अकड़े रहने वाले वृक्ष अपनी बर्बादी मोल लेते हैं।

उत्तम मार्दव शतक

श्रेष्ठ ज्ञान तप के धनी, आत्म ध्यान में लीन ।
मान तजे शिव पद भजे, करे कर्म को छीन ॥१॥
देव शास्त्र गुरु को करूँ, नित साष्टांग प्रणाम ।
भव भव के पातक कटें, शुद्ध होंय परिणाम ॥२॥
विनय बिना विद्या नहीं, विद्या बिन नहिं ज्ञान ।
ज्ञान बिना शिव सुख नहीं, यह निश्चय कर जान ॥३॥
विनय भक्ति कर साधु की, निबल धेनु सम भाय ।
हितू होय जीना भला, बैर सदा दुख दाय ॥४॥
विनय विभूषित प्राज्ञगण, पुरुषोत्तम गुणशील ।
कभी न बोले भूल से, बुरे वचन अश्लील ॥५॥
कर्म किये अभिमान से, कभी न सुखप्रद होय ।
विनय भाव से जो करे, हितकर सुखप्रद होय ॥६॥
इक-इक से बढ़कर भये, पद-धन युत गुणवान ।
देखत उनकी ओर तो, मिट जाता अभिमान ॥७॥
क्रोध करत है नित्य ही, सत्य शील का नाश ।
करता ऐसे मान भी, विनय भाव का नाश ॥८॥
पूरब पुण्य प्रताप से, धन वैभव पद होय ।
ताको गर्व जु नित करे, तिन सम मूरख कोय ॥९॥
अति कठोर ऊंचो अधिक, मान सहित जिहिं बोल ।
सो जन इस संसार को, लेत शत्रुता मोल ॥१०॥
रूप जाति कुल ऋद्धि बल, पूजा तप अरु ज्ञान ।
इन्हें पाय के मद करे, सो मद आठ बखान ॥११॥
रूपवन्त लख जल मरे, लख कुरूप को रास ।
गुण गावे निज रूप के, सो मद रूप निहार ॥१२॥

लख सतभामा रूपमद, नारद क्रोधित होय।
खोज कृष्ण को रुक्मणी, दियो रूप मद खोय ॥१३॥
ऊँच जाति लख जलमरे, नीच जाति लखरार।
गुण गावे निज जाति के, सो मद जाति निहार ॥१४॥
अग्नि-वायु दो विप्रसुत, सात्त्विक मुनि के संग।
वाद किया धर जाति मद, कीला सुर ने अंग ॥१५॥
ऊंच सुकुल लख जल मरे, नीचा कुल लखरार।
गुण गावे निज कुल तने, सो कुल मद निर्धार ॥१६॥
पृभू भूप कुल मद धरा, लव अंकुश के साथ।
रण को तज, व्याही सुता, मद तज तोड़े हाथ ॥१७॥
धनी देखकर जल मरे, निर्धन लख दुत्कार।
गुण गावें निज धन तने, सो धनमद निर्धार ॥१८॥
धर धनमद धनपाल ने, विप्ररक्ष ठहराय।
असली हार छिपायके, दण्ड भूप से पाय ॥१९॥
सबल देख के जलमरे, निर्बल लख के हार।
गुण गावे निज बल तनो, सो बलमद निर्धार ॥२०॥
खरदूषण बल मद धरा, किया न कछु विचार।
युद्ध क्षेत्र में प्राण दे, किया दुखी परिवार ॥२१॥
गुरु पूजा लख जलमरे, लघु पूजा लखरार।
निज-पूजा गुण गावता, सो पूजा मद धार ॥२२॥
अर्क कीर्ति सुत भरत का, पूजा मद को धार।
जयकुमार से युद्ध कर, निन्दा पाई भार ॥२३॥
गुरु तप को लख जल मरे, लघु तप को लखरार।
गुण गावे निज तप तने, सो तप मद निर्धार ॥२४॥

द्वीपायन तपमद धरा, सुनकर वचन कठोर।
भस्म करी सब द्वारिका, लह्यो नर्क दुख घोर ॥२५॥

बहु ज्ञानी लख जल मरे, लघु ज्ञानी लखरार।
गुण गावे निज ज्ञान के, सो मद ज्ञान निहार ॥२६॥
संघश्री धर ज्ञानमद, रुकवाया रथ जैन।
हार गया अकलंक से, सुन जिनमत के बैन ॥२७॥
अपनी पूजा के लिए, निन्दे, धर्मी धर्म।
सो स्वधर्म निन्दा करे, धर्मी बिना न धर्म ॥२८॥
अहंकार भव में करे, तन मन धन ममकार।
बहिरातम भव में भ्रमे, जिनवर कही उचार ॥२९॥

मान बड़ाइ कारणे, खरचे लाख हजार।
धर्म हेतु कौड़ी गये, रोवत फिरे पुकार ॥३०॥
मान बड़ाई कारणे, जो धन खरचे मूढ़।
मरकर हाथी होंयगे, धरती लटके सूंड़ ॥३१॥
मान न जग में कीजिए, मान दुखों की खान।
रावण ने अभिमान से खोये रण में प्रान ॥३२॥
मान बड़ाई ईर्षा, मन में भरी अनेक।
"नारायण" साधु बने, देखो अचरज एक ॥३३॥

उलझ उलझ कर शुद्ध हो, क्यों तू उलझो मान।
सुलझनि को साधन करें, ते पहुंचत शिव थान ॥३४॥

जग में चल ले चार दिन, तन तन के आ जवान।
कमर झुके पर फिर गिरे, अकड़ सभी नाशान ॥३५॥
जो नर निज को मानता, गर्वित हो मतिमान।
सचमुच वह ही मूढ़ है, कहते यों धीमान ॥३६॥

पट धारण कर मूर्ख को, लाभ होत है खास।
खुले हुए सब दोष, मन में करते बास ॥३७॥
जो उथला निज पेट में, सीमित कोई भेद।
रख न सके उस मूढ़ के, सिर पर सब ही खेद ॥३८॥
सुने नहीं समझे नहीं, जो जड़ हठ से नीति।
व्यथित बन्धु उसके लिए, रखे निरन्तर भीति ॥३९॥
करो ऋषि में भव्य नर, विनय श्री की वृष्टि।
क्षीण दशा में मान की, रखो सदा ही दृष्टि ॥४०॥
पीछे भी जो चाहते, कीर्ति सहित जो नाम।
गौरव के भी अर्थ जो, करें न अनुचित काम ॥४१॥

पूरन घट बोलत नहीं, अर्ध भरा छलकन्त।
गुनी गुमान करें नहीं, निर्गुनी मान करन्त ॥४२॥
फल समूह के लागत ही, आम्र वृक्ष झुक जाय।
जिमि वैभव पा सन्त जन, अधिक नम्र हो जाँय ।४३।
बाँट खाय प्रभु को भजे, तजे सकल अभिमान।
"नारायण" ता पुरुष को, उभय लोक कल्याण ॥४४॥

'नारायण' जो करि कृपा, सन्त पधारें धाम।
आगे से उठ प्रीति से, कीजै बिनय प्रणाम ॥४५॥
सब से है लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस द्वितीया के चाद को, शीश नमे सब कोय ॥४६॥

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।
चींटी ले शक्कर चली, हाथी के सिर धूर ॥४७॥

विनय किये विद्या मिले, तप से मिलता स्वर्ग।
भोग मिलत है दान से, ज्ञान देत अपवर्ग ॥४८॥

पाल समय निर्बल बनो, धर्म समय बलबान।
वैभव पाय विनम्र हो, दुख में धीर महान ॥४९॥
बात तीन विशेष करि, रखिये चित में ध्यान।
इक माता इक नार अरु, तजिये निन्दा मान ॥५०॥
मान मूल है पाप का, बिनय धर्म का मूल।
साधक को जिसके बिना, मिले न फल अनुकूल ॥५१॥
झुककर लेना सहज है, औरों से गुरु ज्ञान।
बिना झुके नहीं ले सकें, सर से जल अम्लान ॥५२॥
कोटि करम लागे रहें, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया अहंकार ॥५३॥
रावण-दुर्योधन तना, रह्यो नहीं अभिमान।
ये सब बातें नित सुनीं, मानत नहीं नादान ॥५४॥
फलित वृक्ष झुकते सदा, नीचे की ही ओर।
त्यों विनम्र होकर सदा, झुको प्रभु की ओर ॥५५॥
देखि उठे आदर करे, पूछे हित की बात।
जाना आना ताहि घर, नित नव सरसात ॥५६॥
दुख गरीब का नहीं लखें, अभिमानी धनवान।
पीर पराई पारखी, केवल सन्त सुजान ॥५७॥
इस जीवन का गर्व क्या, कहा देह से प्रीति।
बात कहत ढह जात है, बालू कैसी भीति ॥५८॥
यश-मण्डल पाता नहीं, जिसको महा घमण्ड।
विनश जाता है मित्रता, जिसकी प्रकृति प्रचण्ड ॥५९॥
'नूतन' नरतन पायके, क्यों चलता इतराय।
धन योवन दारा सुवन, होय न अन्त सहाय ॥६०॥

ऊंचे ऊंचे सब चले, नीचे चले न कोय।
'तुलसी' जो झुककर चले, ध्रुव से ऊंचे होंय ॥६१॥
ऊपर चढ़ ले धूल सा, जो लगि बहुत बताय।
फिर तो सहना ही पड़े, पंथिन के पग त्रास ॥६२॥
ऊंचे पद पर नीच नर, थिर न रहे बहु काल।
ख्याल करो मन में तनिक, नृप त्रिशंकु को हाल ।६३।
ऊँचो नीचो देखके, चलत न समय विचार।
अपने हाथन अपनो, करते वेहि बिगार ॥६४॥
ऊँचे चढ़ि डोलत फिरत, धन मद बलमद चूर।
'तुलसी' वे ससार में, नहिं कहावत सूर ॥६५॥
ऊँचे सोई जन उठे, करें न जो अभिमान।
सदा विनय से जो रहें, बाढ़ें दूब समान ॥६६॥
ऊँच जनम धरि जो हरें, नमि नमि ज्यो पर पीर।
गिरिवर से ढ़रि ढ़रि धरनि, सींचत ज्यों नद नीर
पाप किये से धन नशे, बिधवा बहु शृंगार।
बहुत मान से गुण नशे, मांगे आदर छार ॥६८॥
वैसे तो सब में विनय, होती शोभावान।
पर पूरी खुलती तभी, यदि विनयी श्रीमान ॥६९॥
जग वैरी कोई नहीं, जो मन शीतल होय।
निज आपा को त्याग दे, दया करें सब कोय ॥७०॥
शेष सहस फन बिष भरे, नहि अभिमान अतंक।
बिच्छू एक हि बूंद पै, चलत उठाये डंक ॥७१॥
आज खिले कल झुक चले, परसों मिलते धूल।
देख दशा यों फूल की, फिर क्यो फूलत फूल ॥७२॥

फूले फूले मत फिरो, फूल बड़ी है भूल।
पहिले तोड़े जात हैं, फूले फूले फूल ॥७३॥
'रहिमन' गज सम बल नहीं, मानत प्रभु की धाक।
दांत दिखावत दीन है, चलत घिसावत नाक ॥७४॥
"नानक" नन्हे हो रहो, जैसे नन्हीं दूब।
सभी घास जर जायगी, दूब खूब की खूब ॥७५॥
जितनां तू झुककर चले, तितनो जग जस लेय।
पम्प लगे भीतर कुआ, नीर ऊर्ध्व को देय ॥७६॥
जिस यौवन के कारणे, इतना करै गरूर।
वह जीवन पल मात्र है, अन्त धूर को धूर ॥७७॥
'कबिरा' गर्व न कीजिए, रंक न हँसिये कोय।
अभी नाव समुद्र में, क्या जाने क्या होय ॥७८॥
अपमान न करिये दीन का, पुण्य हीन तू मान।
समय समय पर होत है, राजा रंक महान ॥७९॥
धन अरु यौवन को गरब, कबहूँ करिये नाहि।
देखत ही मिट जात हैं, ज्यों बादल की छाँहि ॥८०॥
अभिवादन की थी यही, पूर्व काल में रीति।
गुरुजन को लघुजन करे, दण्ड प्रणाम सप्रीति ॥८१॥
बढ़ी सभ्यता जो हुई, पूर्व व्यवस्था चूर।
पालागन ही रह गया, हुई दण्डवत दूर ॥८२॥
अभिवादन में है कहो, क्या झुकने का काम।
इसीलिये करने लगे, हाथ जोड़ प्रणाम ॥८३॥
युगल करो का जोड़ना, है बिलकुल बेकाम।
एक हाथ ही बहुत है, लाला साहब सलाम ॥८४॥

नयी सभ्यता ने दिया, ऐसा विमल विवेक ।
कहने को गुड मोर्निंग, ऊंगली काफी एक ॥८५॥
अभिवादन के वास्ते, नहीं हाथ दरकार ।
केवल मुण्डी हिलाय के, कर लीजे सत्कार ॥८६॥
फैशन की घुड दौड़ में, शीश हाथ बेकाम ।
टोपी ही से कीजिए, अपटूडेड सलाम ॥८७॥
अगर सभ्यता का रहा, कुछ दिन ऐसा जोर ।
तो आगे रह जायगा, केवल खीस निपोर ॥८८॥
अभिवादन में कीजिए, जय जिनेन्द्र जुहार ।
स्नेह भाव मन में धरें, करिए आत्म सुधार ।८९।
क्षुद्र बिचारे क्या बिगड़ेंगे जब बिगड़ें तब शूर ।
मठा बिचारा क्या बिगरेगा जब बिगरे तब दूध ।९०।
बड़ों को दुख बहुत हैं, छोटों से दुख दूर ।
तारे तो न्यारे रहें, ग्रहे चन्द्र के सूर ॥९१॥
जब तक तेरे पुण्य का, आया नहीं करार ।
तब तक तेरे माफ हैं, औगुन करो हजार ॥९२॥
मानव प्रभुता पायकर, बहुधा करे गुमान ।
प्रभुता पाय न मद करे, वही धन्य पहिचान ।९३।
पाय बड़प्पन नीच तो, करता भारी मान ।
मानत है मैं ही बड़ा, मुझ से तुच्छ जहान ॥९४॥
मानी पावे उच्च पद, तो नीचे को जाय ।
देखो रवि-तप दोपहर, अन्त अस्त हो जाय ॥९५॥
लखो क्षणिक यह सम्पदा पाय न करो गुमान ।
चार दिन की चाँदनी, फिर अन्धियारी जान ॥९६॥

पाकर तुच्छ महाविभव, जो नहीं सुनता बात ।
जैसे को तैसा दिया, विधि सविवेक दिखात ॥९७॥
नवे सु आम्बा आँवली, नमे सो दाडिम दाख ।
एरण्ड बिचारा क्या नमें, ओछी जिसकी जात ॥९८॥
नमता है सो ऊंच है, नहीं नमे सो नीच ।
जल काटत पापाण को, रहे गोंदरा बीच ॥९९॥
विनय दया अरु प्रेम से, जास हृदय भरपूर ।
नहि मनुष्य वह देवता, गहो तास पद मूर ॥१००॥

उत्तम आर्जव धर्म

मन वचन काय के योगों की प्रवृत्ति को सरल रखना अर्थात छल कपट का परित्याग करना उत्तम आर्जव धर्म है। मन वचन और काय की सहज प्रवृत्ति से विभूषित मुनिराज के उत्तम आर्जव धर्म होता है।

उत्तम आर्जव धर्म की आराधना:—

उत्तम आर्जव कपट मिटावे, दुर्गति त्याग सुगति उपजावे।

जो भव भ्रमण से भयभीत हैं और रत्नत्रय की आराधना में तत्पर हैं ऐसे मुनिराज को अपने रत्नत्रय की आराधना में लगे हुए छोटे अथवा बड़े दोष को छिपाने की वृत्ति (आदत) नहीं होती किन्तु जैसे माता के पास बालक सरलता से सब कह देता है वैसे ही गुरु के पास जाकर अत्यन्त सरलता से सर्व दोष प्रकट करते हैं और इसी प्रकार अति सरल परिणाम से आलोचना करके रत्नत्रय में लगे हुए दोषों को नष्ट करते हैं एवं गुरु के उपकार को भी सरलता से प्रसिद्ध करते हैं ऐसे मुनिराजों को उत्तम आर्जव धर्म की आराधना होती है। ऐसे धर्म के आराधक श्री मुनियों के चरण कमलों में हमारा बार बार नमस्कार हो।

यह माया हमेशा आत्म वंचना ही करती है। काष्ठागार ने मायाचारी से विश्वास घात करके सत्यंधर महाराज को मार डाला। आखिर जीवन्धर कुमार ने काष्ठांगार को मारकर अपना राज्य हस्तगत कर लिया।

दुर्योधन पाण्डवों के प्रति मायाचारी करके लाख के घर में उन्हें पुनः भेजा लोभी ब्राम्हण को दान देकर उस

मकान में आग लगवा दी। परन्तु पाण्डव अपने पुण्य से महामंत्र के प्रभाव से बच निकले किन्तु दुर्योधन की निन्दा आज तक हो रही है और अभी भी वे सभी नरक में दुःख उठा रहे हैं।

अतः मायाचार का त्याग कर सरल परिणामों के द्वारा अपनी आत्मा की उन्नति और शिवगति का पात्र बनना चाहिए। आर्जव नाम सरलता का है अर्थात मायाचार नहीं करना। मन वचन काय की एकसी प्रवृत्ति रखना आर्जव धर्म है। जिनके मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का तीव्र उदय होता है वे जीव अपनी मनोवृत्ति को सदा कुटिल बनाये रखते हैं और दूसरों को धोखा देकर एवं झूठ बोल-कर अपनी कुशलता या चतुराई पर मुग्ध रहते हैं। पर उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि पर का ठगा जाना या धोखे में आना तो उक्त व्यक्ति के कर्मोदय के आधीन है पर मायाचार करने वाले ने अपने आपको ठग लिया है और मायाचार के फलस्वरूप तिर्यन्चगति का आश्रव कर अनेक जन्मों के लिए तिर्यंच होने का द्वार खोल दिया है।

मनुष्य मायाचार अनेक कारणों से करता है। कभी अपने शत्रु से बदला लेने के लिए और पर का घात करने के लिए, कभी अपना बड़प्पन दिखाने के लिए, कभी दूसरे का धन विविध (अनेक) उपायों से छीनने के, कभी किसी स्त्री को अपने आधीन करने के लिए और कभी वैभव वृद्धि के लिये मायाचार करता है।

जो शत्रु से बदला लेने और उसे मारने के लिए माया-

चार करते हैं, वे हिंसक मास भक्षी शेर, चीते और सर्पादिक योनियों में जन्म लेने का कर्मों का आश्रव करते हैं। जो अपना बड़प्पन दिखाने के लिए मायाचार करते है। वे घोड़े, बैल आदि योनियों का कर्माश्रव करते हैं।

जो भीतर से मायाचरण करके भी ऊपर से अपनी मान प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए मायाचार करते हैं और स्वयं सफेद पोश बने रहते हैं, वे हंस, बगुला आदि योनियों का कर्माश्रव करते हैं। सारांश–मोक्षशास्त्र का माया-तैर्यग्योनयस्य सूत्र हमें उक्त प्रकार का संकेत करता है और शिक्षा देता है कि विवेक एवं आत्म धर्म का ध्यान रखते हुए आत्म कल्याण के लिए सज्जनों को उक्त सभी प्रकार के मायाचार का परित्याग कर सरलता का व्यवहार करना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि छल कपट करके वैभव इकट्ठा करने वाले का अन्त में पतन होता है, दुनिया की नजरों में गिर जाते है तथा जगत उन्हें ठुकरा देता है। जीवों के मन, वचन और काय की सरलता ही उभयलोक में शांति प्रदान कराने में सहायक ही होती है। इसके विपरीत वक्रता या कुटिलता विनाश का कारण होती है अतः मानवों को बाहर और भीतर सरलता (कोमलता) अपनानी चाहिए क्योंकि सरलता ही साधुता का लक्षण है।

आत्मतत्व में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों को अन्तरंग और बहिरंग रूप से अंगूर की तरह एक समान रहना चाहिए. जो व्यक्ति खजूर की तरह ऊपर से मृदु तथा अन्दर

से कठोर और छलयुक्त होते हैं। वे नियम से मरकर पशु पर्याय में उत्पन्न होते हैं अतः मानवों को बाह्य तथा व्यवहार में निष्कपटता तथा अन्तर में सरलता धारण करते हुए आत्म कल्याण हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

मन में कुछ और विचारता है, वचनों से कुछ और प्रकट करता है एवं काय से कुछ अन्य ही आचरण करता है। इसके अन्तरंग भावों का भेद सिवाय ज्ञानी और मनः पर्याय ज्ञानी के और कोई भी नहीं जान सकता। इस प्रकार के ऐसे भावों को माया कषाय कहते हैं। मायाचारी पुरुष प्रायः ऊपर मिष्ट भाषण करता है, सौम्य प्रकृति आवृत्ति बनाता है अपने आचरणों से लोगों को विश्वास उत्पन्न कराता है। गुणभद्र स्वामी कहते हैं–

भेय माया महा गतात् मिथ्या घन तमोनयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादि विषमाहयः॥

निविड मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से व्याप्त इस माया रूपी महा गड्ढे से हमेशा डरना चाहिए क्योंकि इसमें छिपे हुए क्रोध आदि विषम सर्प दिख नहीं सकते हैं।

अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए विरोधी की हां में हां भी मिलाता है किन्तु अवसर पाकर वह अपने मन जैसी करने में भी नहीं चूकता है। इसका स्वभाव ठीक बगुले जैसा होता है। अर्थात् जैसे बगुला पानी में एक पैर से खड़ा होकर नासा दृष्टि लगाता है और मछली ज्यों ही उसके पास उसे साधु समझ कर आती है, त्यों ही वह छद्म भेदी झट से उन्हें पकड़कर खा लेता है।

मायाचारी स्वयं तो दुखी रहता ही है किन्तु दूसरों को भी दुःखी करने में हर्ष मनाता है। ये लोग शत्रु से भी भयंकर होते हैं क्योंकि शत्रु तो प्रकट रूप से धावा करके मारता है, जिससे कि हम सदा शंकित सावधान रहकर अपनी रक्षा भी कर सकते हैं परन्तु इन मीठे बोलने वाले आस्तीन के सांपों से (मायाचारियों से) बचना बहुत ही कठिन होता है किसी नीतिकार ने कहा है-

अरकसिया के मुख नहीं, नहीं गोच के दन्त।
जे नर धीरे बोलते, इनसे बचिए सन्त ॥

क्योंकि ये लोग सदा मीठी मीठी बातों में अन्तरंग का हाल पूंछकर बाहिर प्रकट कर कष्ट में डाल देते हैं। वे कभी किसी से मित्रता नहीं करते हैं। जहां अपना मतलब होते देखा कि झट वहां जा मिले। अपने वचन की स्थिरता तो इनके होती ही नहीं। झूंठ बोलना ही इनका उद्देश्य रहता है इसलिए सदा ऐसे लोगों से बचना चाहिए।

आचार्य श्री उमा स्वामी ने कहा है-'माया तैर्यग्योनस्य' अर्थात माया करने से तिर्यन्चगति का बन्ध होता है। वहां पर यह जीव अनेक प्रकार के दुखों को भोगता है। क्षुधा, तृष्णा, शीत-उष्ण, छेदन भेदन, डंस, मच्छर, भार वहन मारन ताडनादि अनेक प्रकार के दुखों को सहता है।

लोकेषणा के लिए मायाचार :-

अग्निमुख का पुत्र मृदुमति धन पाकर व्यसनी बनकर सब धन गंवा बैठा। निर्धन बनकर अब वह चोरी करने लगा। एक दिन राजा के यहाँ चोरी करने गया था किन्तु

रात के समय राजा रानी की तत्त्वचर्चा सुनकर वह मुनि बन गया। चातुर्मास में आलोक नगर के पर्वत पर गुणसागर मुनिराज योग धारण कर रहे थे। वे बड़े प्रभावशाली सन्त थे। उनकी पूजा के लिए देवगण आये थे।

किन्तु वे वहाँ से आकाश मार्ग द्वारा अन्यत्र गमन कर गये। उस समय ये मृदुमति मुनिराज वहाँ पर थे, इनको ही सबने गुणसागर मुनिराज समझकर इनकी विशेष पूजा भक्ति की। मृदुमति मुनिराज अपना परिचय न देकर पूजा भक्ति कराते रहे। इस मायाचार के फल से वह त्रिलोक मण्डन नामक हाथी हुए।

एक दिन यह हाथी खम्भा तोड़कर अयोध्या में चिघाड़ता, उत्पात मचाता हुआ एक सरोवर के किनारे पहुँचा। वहाँ भरत जी तालाब से नहाकर आ रहे थे। भरतजी को देखते ही त्रिलोक मण्डन हाथी को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से एकदम शान्त हो गया। क्योंकि इन दोनों जीवों के अनेक भवों से पिता पुत्रादि अनेक सम्बन्ध रहे हैं। वह हाथी सोचने लगा कि मैंने मुनि होकर भी मायाचार किया जिसके फल स्वरूप मैं पशु पर्याय में पैदा हुआ हूँ। इसलिये ये चारो कषाय ही आत्मा के असली शत्रु हैं। चारों गतियों में भ्रमण कराने वाली हैं। यह सोचकर उसी दिन से उसने आहार जल का त्याग कर समाधि मरण पूर्वक देह का त्याग कर दिया।

भावों का प्रभाव:-

बेटा! मैं थक चुकी हूं अतः मेरी गठरी अपने घोड़े

पर रख लो, तो मैं गांव तक पहुँच जाऊंगी। 'बुढ़िया क्या मैं तुम्हारा नौकर हूं, जो तुम्हारा सामान लादकर तेरे साथ धीरे धीरे चलूं।' यह सुनकर बुढ़िया चल दी। आगे चलकर सवार ने सोचा कहीं मैंने उसकी गठरी रखली होती तो घोडे को ऐड़ लगाकर चम्पत हो जाता और सारा माल अपने हाथ लग जाता।

उधर बुढ़िया सोचने लगी अगर मैंने अपनी गठरी उसे दे दी होती और वह लेकर भाग जाता तो मैं अपनी सारी कमाई से हाथ धो बैठती।

अब सवार दुर्भावना लेकर लौटा और कहने लगा 'लाओ माताजी! आपकी गठरी रख लूं' बुढ़िया बोली–बेटा! अब रहने दो, कुछ तुम समझे और कुछ हम।

ईमान हैं तो सब कुछ है–

ज्ञान को बड़ी अकड़ थी। मैं जहाँ भी जाऊं पूजा जाता हूं। पर ईमान ने उसकी बात पर एतराज किया। बोला ईमान का सब आदर करते हैं। बेईमान को सदा अपमानित होना पड़ता है। इस पर ज्ञान बोला–पर ज्ञान होगा तभी तो ईमान और बेईमान का रहस्य समझ में आवेगा। पर ज्ञान हो और बेईमानी करे ईमान बोला–तो फिर जीत किसकी होगी? मेरी ज्ञान बोला।

दोनों ने परीक्षा लेने की ठानी। ज्ञान ने पण्डित का रूप बनाया और राजमहल में जाकर दस्तक दी। पण्डित जी का बड़ा सम्मान हुआ, स्वयं राजा पण्डित जी की ज्ञान भरी बातो से सब गदगद हो गये। पण्डित जी राजसभा से

लौटने लगे तो ईमान मिल गया। वह बोला अब मेरी बारी है। मैं कहूँ सो करना फिर देखना, ज्ञान बड़ा है या ईमान ? ज्ञान को तो घमण्ड था ही। ईमान ने जो कान में कहा था वही किया पहले वचन जो दे चुका था। खजाने के वहां वहां जाकर जो मोहरों की थैली पड़ी थी उसे उठा लिया।

खजांची चिल्लाया चोर चोर तो पहरेदार ने पंडितजी को पकड़ लिया। राजा के सामने सारी हकीकत कही तो राजा ने हथकड़ी डालकर सारे शहर में घुमाने का हुक्म दिया। पण्डित वेष छोड़कर ज्ञान वहां से भाग खड़ा हुआ। और बोला ज्ञान के साथ ईमान हो तो ठीक, नहीं तो बेई-मानी करने वाले ज्ञानी को भी अपमानित होना पड़ता है।

उत्तम आर्जव शतक

मायाचारी करत हैं, वे पशुगति में जाय।
बध बंधन के दुख सहे, घास फूस वे खाय ॥१॥
माया विष की बेल से, मूर्छित रंक व राय।
आर्जव औषधि से मिले, मुक्ति महा सुख दाय ॥२॥
मन-वच- तन की सरलता, आर्जव धर्म सुजान।
मुक्ति मार्ग का सेतु है, रखिये इसका ध्यान ॥३॥
चढ़ी काठ की हड़िया, हो जाती है राख।
एक बार के कपट से, रहती किसकी साख ॥४।
'रहिमन' रहिला की भली, जो परसे चितलाय।
परसत मन मैला करे, सो मैदा जर जाय ॥५॥
जयमाला छापा तिलक, सरै न एकहु काम।
मन काचे, नाचे वृथा, कर सचाई से काम ॥६॥
छुप करके चुगली करे, उज्जवल भेष बनाय।
वे तो बगुला सारिखे, पर अकाज कर खाय ॥७॥
माया अपरम्पार है, मायावी की जार।
देखत के नीके लगे, अन्दर विष की खान ॥८॥
करते तो कुछ और है, मन में रखने और।
कहते वचनों में कछु, उनकी जाव न पौर ॥९॥
बड़प्पन का लक्षण यही, रहें सादगी मांय।
रहें विनम्र, बोली मधुर, दीनहि भूले नाय ॥१०॥
गुण ही जिनकी सपम्दा, गुण संग्रह जिन होय।
ढकत नहीं वे वस्त्र से, गुण का आदर होय ॥११॥
कपट छिपाये न छिपे, छिपे न मोटा भाग।
दाबे दूबी न रहे, रुई लपेटी आग ॥१२॥

वंचक के व्यवहार से, उसके भौतिक अंग।
मन ही मन हंसते उसे, देख छली का अंग ॥१३।
पहिले अन्दर साफ कर, पीछे बाहर धोय।
तब शीशी उज्जवल करे, जाने सारे लोय ॥१४॥
पांव पड़त भी चुगल के, विश्वास करो न भ्रात।
नमत कूप के डोल भी, जीवन हर ले जात ॥१५॥
भीतर से धरमी बनो छोड़ो मायाचार।
कथनी करनी एकसी, यही धर्म का सार ॥१६॥
मन मैला तन उजला, बगुला जैसा भेष।
इससे तो कौआ भला, भीतर बाहर एक ॥१७॥
अरकसिया के मुख नहीं, नहीं गौंच के दन्त।
जे नर मीठे बोलते, उनसे बचिये सन्त ॥१८॥
छलि मे छल जाने सभी, पर छलते एक बार।
अगर दुबारा जाय तो होत नहीं एतबार ॥१६॥
माया ठगनी ने ठगा, यह सारा संसार।
पर माया जिनने ठगी तिनको बहु बलिहार ॥२०॥
कहते हैं करते नहीं, मुख के बड़े लबार।
तिन मुख काला होत है, साहब के दरबार ॥२१॥
माया छाया एक सी, लख 'दामोदर' सोय।
सन्मुख हो आगे भगे, भागत पीछे होय ॥२२॥
'दामोदर' छल प्रीति से, सभी ठगाये जाय।
शीलवती सति नारि की, करते देव सहाय ॥२३॥
खल मन कछु, वचन कछु, काया में कछु आन।
सज्जन के मन वचन तन, रहते सदा समान ॥२४॥

विश्वासी को ठगे से कौन चतुरता जान।
गोद पड़े जो सुत रहे, मारें नहिं बलवान ॥२५॥
चुगल खोर निश्चय सदा, बैठ कलह करवाय।
चुगल खोर से नित्य ही, बच; हित चाहो भाय ॥२६॥
माया छाया एक है, मन दौरे निशि दीप।
छिन छिन बांधे कर्म को, देखत हैं जगदीश ॥२७॥
जप तप तीरथ व्यर्थ सब, यदि माया की हानि।
बगला जगत न चाहिए, कपट पाप की खानि ॥२८॥
मुख से कथनी ज्ञान की, गया न अन्तर मोह।
वह पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञान से द्रोह ॥२९॥
मीता तू या बात को, अपने हिये विचार।
बजत तमूरा कहुँ सुने, गाँठ गठीले तार ॥३०॥
आँख बचाकर धन हरे या लूटे सो चोर।
बनिज झूठ छल करि करे, सो चोरन शिरमोर ॥३१॥
ऊपर दरशै सुमिल सी भीतर अनमिल आंक।
कपटी जन की प्रीति है, खीरा जैसी फांक ॥३२॥
अन्तर की गति और कछु, मुख रसना कछु और।
'दादू' करनी और ही, तिनको नाहीं ठौर ॥३३॥
ऊपर मुख से हित करे, भीतर नाहिं सनेह।
ज्यों जल में छाया पड़े, शीतल होत न देह ॥३४॥
ऊँच भयो किस काम को, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर ॥३५॥
कहते कछु करते कछु, है जग की विधि दोय।
इत देखत अरु खात के, अलग दन्त गज होय ॥३६॥

करनी करते शूरमा, कथनी करें लवार ।
करनी कर कथनी करे, ते मानव शृंगार ॥३७॥
कच्चे घर में नीर का, भरना जैसे व्यर्थ ।
माया से कर बंचना जोड़ा जैसे अर्थ ॥३८॥

कपट मित्र जिसके नहीं, मन में उठे विचार ।
उस नर पर आती दया, देत पतन धिक्कार ॥३९॥
कहता तो कछु अन्य है, करे और ही रूप ।
स्वप्नों में भी मित्रता, ऐसों की विषरूप ॥४०॥
कर जोड़े रोवे अधिक, फिर भी क्या इतवार ।
छुपा हुआ रिपु के निकट, सम्भव हो हथियार ॥४१॥
कपट मित्र वैरी बने, बली न तुम भरपूर ।
तो बन माया मित्र से, रहो सदा ही दूर ॥४२॥
कहते तो बहुते मिले, करते मिले न कोय ।
जो कहता वह जान दे, जो करता नहिं होय ॥४३॥

कपट-गांठ मन में नहीं, सबसे सरल स्वभाव ।
'नारायण' ता भक्त की, लगें किनारे नाव ॥४४॥

कहे सामने प्रिय वचन, पीछे करे बिगार ।
उन मित्रों से दूर रह, तजिये स्वहित विचार ॥४५॥
पेट कपट जिव्हा कपट, नैना कपट विराट ।
'तुलसी' प्रभु कैसे मिले, घट से औघट घाट ॥४६॥
भीतर से कुछ और हैं, ऊपर रंगे सियार ।
रे मन ऐसे नरन से, सदा रहो होशियार ॥४७॥

माया सगी न तन सगा, सगो नहीं परिवार ।
सद्गुरु कहते जीव को, सगो सुधर्म विचार ॥४८॥

रूखे वचन मिलाप से, कहत होत रस रंग।
बीन बजत ज्यों तार के, टूटे रहत न रंग ॥४६॥
सरल स्वभावी होय के, करिये उत्तम काज।
धन कीर्ति बढ़ती सदा, बढ़ते सारे साज ॥५०॥
सरल स्वभाव सुन्दर सुखद, धर्म अर्थ की खान।
पावत वे संसार में, वैभव विपुल महान ॥५१॥
सावधान उससे रहो, मैत्री करो न तात।
भीतर जोड़ें हाथ जो, बाहर निन्दक ख्यात ॥५२॥
छली तजो लख सप सम, उसकी मीठी मार।
'दामोदर' छल से डसे, निश्चय हो बेकार ॥५३॥
कपटी मायाधीन हो, सरल करे व्यवहार।
'नारायण' इनसे सदा, रहो सदा होशियार ॥५४॥
घृणित न देखा चाहते, निज को यदि तुम तात।
कपट भरे कुविचार से, तो बचिए दिन रात ॥५५॥
बेईमानी से प्रकट, काला मुख हो जाय।
पर होती ईमान से, कदर अधिक जगमाय ॥५६॥
सरल सादगी से रहो, राखो उच्च विचार।
दान विनय के साथ में, निज की करो सम्हार ॥५७॥
कपट भाव से जो करे, पर घर चोरन जाय।
मार दण्ड उस पर पड़े, अन्त नरक दुख दाय ॥५८॥
जो अपर के मार्ग में, देते जाल बिछाय।
वे भी अपने आप ही, निज कर्मन फँस जाय ॥५६॥
करुणा की ही डाल पर, फल मिलते सुखदाय।
काँटा बोवत और को, शूल लगे दुखदाय ॥६०॥

सरल सादगी है सदा, सुखधन यश करतार।
कपट भाव का त्याग ही, मुक्ति भुक्ति दातार ॥६१॥
छली पुरुष निज देह का, खोता है अधिकार।
वारिश बनता स्वर्ग का, सीधा नर साभार ॥६२॥
दिव्य देह किस काम की, नर की भरी प्रभाव।
जान मान जिनके हृदय कपट भरे यदि भाव ॥६३॥
देख सफाई ऊपरी, मत फिसलो तुम मित्र।
गोबर के पकवान पर, लगो स्वर्ण को पत्र ॥६४॥
देखत के सुन्दर लगें, उर में कपट विषाद।
इन्द्रायण के फलन सम, भीतर कटुक सवाद ॥६५॥
धर्मात्मा का रूप धर, जो करता है पाप।
झाड़ी भीतर व्याध सा, बैठा ले वह चाप ॥६६॥
चित कपटी सबसे मिलें, मोही कुटिल कठोर।
इक दुर्जन इक आरसी, आगे पीछे और ॥६७॥
जप पूजा बहुते करें, शोषण करें महान।
बाट लखें हरि दूत की, आवत वेगि विमान ॥६८॥
जोंक यथा लागी रहे, ज्ञात होत नहिं खोट।
करबौ करें तैसो चुगल, चुपके चुपके चोट ॥६९॥
ठाट बाठ बाहर बहुत, भीतर सूनि सराय।
खोखल तरु अन्तर कहा, ऊपर हरा दिखाय ॥७०॥
ठुकरावे या शरण दे, मित्रहि धोखा देय।
'रहिमन' ऐसे पुरुष को, भूलि संग नहिं लेय ॥७१॥
द्रव्य पड़ौसी की सभी, ले लूंगा कर छद्म।
मन का यह संकल्प भी, पापों का दृढ़ सद्म ॥७२॥

जिस धन की हो आय में, कपट जाल का पाश ।
वृद्धिगत चाहे दिखे पर है अन्त विनाश ॥७३॥
वैभव की ही वृद्धि में, ठग खोरी की चाट ।
ले जाती नर को वहीं, जहाँ विपद की हाट ॥७४॥
पर धन के हरणार्थ जो, करे प्रतीक्षा क्रूर
दया नहीं उसके हृदय, प्रेम कथा अति दूर ॥७५॥
करत हृदय से कुटिल गति, करत निबल पै जोर ।
पलटत भाग्य व समय के, सहैं दुःख घनघोर ॥७६॥
छल कर भी पर द्रव्य को, बुझे न जिसकी प्यास ।
अनभिज्ञ वह निज वस्तु का, सुपथ न उसके पास ।७७।
दुर्जन के मधु वाक्य पर, मत करना विश्वास ।
मधुर वचन है जीभ पर, हृदय भरे विष खास ॥७८।
क्षण नश्वर ऐश्वर्य का, जिसके मन में छाप ।
नहीं अन्य की द्रव्य का, छल कर लेता पाप ।७९॥
शुद्ध सरलता का रहे, आर्य हृदय में वास ।
चोर ठगों के चित्त में, त्यों ही कपट निवास ॥८०॥
समय पाय फल होत है, समय पाय झरि जात ।
पाकर नश्वर देह को, मूरख मन गर्रात ८१॥
जो निन्दा से डरत हैं, खा चुगली धन लेत ।
उससे जग डरता इसे, जैसे लागा प्रेत ८२।
नदी नार शृंगी नखी, दन्ती विषी गँवार ।
चुगल चोर इन नवन की करो प्रीति न यार ॥८३॥
'कबिरा' मैं रोवन लगो, देख जगत की रीति ।
जहँ देखी तहँ कपट है किससे कीजै प्रीति ॥८४॥

कुटिल वचन सबसे बुरा, जार करे तन छार ।
साधु वचन जल रूप है, बरसै अमृत धार ।।८५।।
मन मैला तन ऊजला, मुख पर मीठा बैन ।
'मोहन ऐसे मित्र से, को पावै सुख चैन ।।८६।।
चोर नित्य चोरी करे, रहत न कुछ भी पास ।
वनों पहाड़ों भागते, दुख भोगे दिन रात ।।८७।
ऊपर से धर्मी बने, भीतर शुद्ध न एक ।
रात दिवस इत उत फिरे, किस विधि रहती टेक ।।८८।।
पहिले निज को शुध करे, पीछे दे उपदेश ।
जो कहते करते नहीं, वे पाते हैं क्लेश ।।८९।।
पद धन वैभव के लिए विष भी छली खिलाय ।
बात छिपै नहीं जगत में, अपयश भी बहु छाय ।।९०।।
मुह मधु अन्दर विष भरे, तिन्हें न माने मीत ।
छल प्रपंच अरु ढोंग रचि, जो दिखात अति प्रीत ।९१।
कहे सामने प्रिय वचन, पीछे करें बिगार ।
उन मित्रों से दूर रह, तजिये स्वहित विचार ।।९२।।
उज्जवल वर्ण गरीब गति, एक टांग मुख ध्यान ।
देखत लागत भगत वत, निपट कपट की खान ।।९३।।
मुख पर मीठो बोलिये, पीछे करिबो घात ।
यह कपटी की चाल है, करे बड़ो उत्पात ।।९४।।
मन से जग को भल चहें, हिय छल रहें न नेक ।
सो सज्जन संसार में, जिनके विमल विवेक ।।९५।।
जिनका मन मैला सदा तन हो उज्जवल जास ।
ऐसे दम्भी का कभी, करो नहीं विश्वास ।।९६।।

पुण्यवान के साथ में, कितना ही छल होय ।
जितना लिक्खा भाग में, मेट सके नहीं कोय ॥९७॥

काप कर्म निश दिन करें, बनकर धार्मिक आप ।
लुक छिपकर माया करें, पशु बन भोगें पाप ॥९८॥

प्रबल पुण्य के उदय से, कपट चाल बेकाम ।
बचे पाण्डव पुण्य से, कौरव मुख से श्याम ॥९९॥

मन वच तन की सरलता, आर्जव धर्म सुजान ।
यही सुपथ है मुक्ति का, शेष सहायक मान ॥१००॥

उत्तम सत्य धर्म

संसार के यथार्थ स्वरूप को संवेग भाव से जानकर आवश्यकता पड़ने पर हित, मित एवं प्रिय बोलना ही उत्तम सत्य धर्म है। समस्त धर्मों का उद्गम 'सत्य' कड़वी औषधि के समान है। जिसके सेवन करते समय कष्ट होता है परन्तु जिसका फल मधुर और कल्याण कारक है। इस सत्य विचार को स्वीकार कर दूसरों को दुःख एवं सन्ताप पहुँचाने वाले वचनों का त्याग कर स्व पर हितकारी वचनों को बोलने वाले श्रमणों के उत्तम सत्य धर्म होता है।

उत्तम सत्य वचन मुख बोले। सो प्राणी संसार न डोलें॥

श्री मुनिराज वचन विकल्प को छोड़कर के सत्स्वभाव को साधने में तत्पर हैं और यदि वचन बोलें तो वस्तु स्वभाव के अनुसार स्व पर हितकारी सत्य वचन ही बोलते हैं उनकी सत्य धर्म की आराधना होती है।

सते हितं तत् कथ्यते सत् अर्थात् भलाई के लिए जो बोला जाय उसे ही सत्य कहते हैं और भलाई तभी हो सकती है जब कि वस्तु का जैसा स्वरूप हो वैसा ही न्यूनाधिक रहित कहा जाय इसलिए यथार्थ बोलना ही सत्य कहा जाता है। उत्तम शब्द गुण वाचक है। यह बतलाता है कि इस कथन में अपनी ओर से कुछ भी न मिलाकर न घटाकर जैसा का तैसा कहा गया है।

अपनी ओर से न्यूनाधिक तभी किया जाता है जब कि कुछ रागद्वेष या विषय कषायकी पुष्टि करना हो क्योंकि अपेक्षा रहित पुरुष किसलिए अपनी निर्मल आत्मा की बात बताने

के लिए व्यर्थ ही उलझन में डालकर खुद को दुःखी करेगा अर्थात् कभी नहीं करेगा इसलिये यह तात्पर्य हुआ कि विषय कषाय राग और द्वेषादि भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है और असत्य कषाय विषयादिक के बिना बोला नहीं जाता है। इसलिए झूठ भी परभाव हुआ जो आत्मा का स्वभाव नहीं है वह धर्म नहीं है।

इसलिये जब आत्मा से राग द्वेषादि भाव अलग होते क्षय, क्षयोपशम व उपशम होता है तभी आत्मा का स्वभाव प्रकट होता है। स्वभाव के प्रकट होने पर ही जो वस्तु जैसी है वैसी ही कही जा सकती है और उसी को ही सत्य कहते हैं। जीव मात्र का कर्तव्य है कि वह सत्य बोले क्योंकि व्यवहार में भी सत्य के बिना कार्य नहीं चल सकता है। लोक में जिसके वचन की प्रतीति (विश्वास) नहीं उसे निन्द्य समझा जाता है। लोग उससे घृणा करते हैं कोई भी विश्वास नहीं करता है। उसका सब लोक व्यवहार रुक जाता है कोई भी विपत्ति में उसका सहायक नहीं होता है। आजीविका नष्ट हो जाती है। कहा भी है-

मिथ्या भाषी साच हूँ, कहे न माने कोय।
भांड़ पुकारे पीर वश, मिस समझे सब कोय॥

झूठ बोलने के कई कारण हैं। कोई भय से बोलता है तो कोई लोभ से बोलता है। कोई मोह से बोलता है तो कोई बैर वश बोलता है कोई आशा वश तो कोई क्रोध वश कोई मान वश कोई लज्जा वश कोई कौतुक से कोई केवल मनोरंजन के लिए इत्यादि अनेक कारणों से प्रायः झूठ व्यवहार होता है।

यद्यपि बोलते समय बोलने वाले को थोड़ा बहुत आनन्द आ जाता है अथवा वह झूठ प्रकट होने तक लोगों में उसके सत्य के समान प्रतीति होने से कथंचित विषय और कषायों की पुष्टि भी हो जाती है तो भी प्रकट होने पर सब पोल खुल जाती है और फिर वह एक बार भी झूठ पकड़े जाने पर सदा के लिए विश्वास से उठ जाता है। लोग कहते हैं कि झूठ बिना व्यवहार नहीं चल सकता है परन्तु यह कल्पना झूठी है कारण यदि झूठ बिना व्यवहार नहीं चलता तो सत्य की आवश्यकता ही नहीं रहती लोग सत्य का नाम भी भूल जाते परन्तु देखा जाता है कि जो लोग झूठ बोलते है अपनी झूठी बात का प्रचार करना चाहते हैं झूठ से द्रव्य कमाना चाहते हैं मानादि कषायों को पुष्ट करना चाहते है या मनोरंजन हास्यादिक करना चाहते हैं वे भी लोगों को अपने झूठ को सत्य रूप से प्रकट करते हैं।

लोगों का विश्वास अपने ऊपर खींच लेते हैं और सत्य की ओट में होकर ही अपने इच्छित विषय की पूर्ति करते हैं। इसी प्रकार घात वचन बोलने से बड़ी भारी हानि उभय पक्ष को उठानी पड़ती है। क्रोध, लोभ भय और हंसी इन कारणों से झूठ बोला जाता है। वह झूठ बोलना भी महापाप है! आत्म कल्याण के लिए ऐसे असत्य कभी नहीं बोले सर्वथा त्याग दे।

घात वचन बोलने का फलः-

एक बार कौरव पाण्डवों के ठाट बाट देखने के लिए उनके राजभवन में गये। इस भवन में कुछ ऐसे पत्थर जुड़े

थे जहाँ ऐसा लगता था कि यहां पानी भरा है और जहां पानी भरा था, वहां ऐसा लगता था कि पत्थर लगा है। एक जगह दुर्योधन उस पानी में फच्च से गिर पड़ा। यह देखकर द्रोपदी ने हंसते हुए कहा अन्धों के अन्धे ही होते हैं इस व्यंग ने वह भयकर रूप लिया कि महाभारत युद्ध हुआ। द्रोपदी की लाज लूटी गई और अठारह अक्षौहिणी सेनायें नष्ट हो गई।

घात बचन बोलने से उभय पक्ष में शान्ति रहती है इसलिए कटाक्ष करते हुए कटु वचन नहीं बोलना चाहिए। शरीर के अंग प्रत्यंग में हड्डियां पाई जातीं हैं परन्तु क्या जीभ में हड्डी होती। प्रकृति को बोलने में कठोरता पसन्द नहीं है इसलिए कोमल बोलने के लिए कोमल जीभ दी है कहा भी है:-

कुदरत को ना पसन्द है, शक्ति जबान में।
पैदा हुई न हड्डियां, इसलिए जबान में॥

कहे एक सुने कान दो, इसलिए प्रकृति ने दी जीभ एक कान दो

इसके विपरीत सत्यवादी का यत्र तत्र सम्मान होता है सब उसकी प्रतीति करते और चाहते हैं। देखो महात्मा राम चन्द्र जी और महात्मा धमचन्द्रजी आदि के वचनों का प्रभाव शत्रु पक्ष पर भी पड़ता था। महाराज हरीशचन्द्र, महाराज बलि आदि अपने सत्यवादी होने से ही लोक में अमर हो गए हैं, देवों के द्वारा पूजे गए हैं। महाराज दशरथ, रतिपति वसुदेव अपने वचनों से हो चिरस्मरणीय हो गये हैं।

आज भी एक वचन की प्रतीति पर हुण्डी पुरजा आदि करोड़ो रुपयों का व्यवहार चलता है। जहां तक प्रतीति

है वहां तक ही सब कुछ है दिवाला निकलने पर मुंह काला हो जाता है। राजा वसु झूठ के कारण ही तीसरे नर्क गया और कौरव लोक निन्द्य हो गये। यदि घर का पुत्र, स्त्री, भाई बहिन आदि कोई भी झूठा हो तो उसका विश्वास न करके करोड़ों की सम्पत्ति गैर आदमी मुनीम रोकड़िया, दीवान, भण्डारी को सौंप देते हैं। यह सब सत्य का ही प्रभाव है। कहा भी है-

सत्य बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है, वाके हृदय आप॥

कदाचित सत बोलने में प्रकट रूप में कुछ आपत्ति भी आवे, तो भी अपने सत्य प्रण को नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि आपत्ति भी भलाई के लिए ही आती है।

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपत्ति काल परखिये चारी॥

आपत्ति कसौटी है, इससे ही पुरुष की दृढ़ता की परीक्षा होती है। सोना जितना आंच देकर तपाया जाता है, कसौटी पर कसा जाता है उतनी ही उसकी कीमत बढ़ जाती है। ठीक वैसे ही पुरुष का भी वही हाल है। परीक्षा होने से वह जगत पूज्य हो जाता है। परीक्षा में फैल हो जाने से वह फिर घूरे का कूरा हो जाता है।

सत्य से सुधारः-

एक राजकुमार कुसंगति के कारण सप्त व्यसन में लिप्त हो गया था। सुधारने के लिए अनेक प्रयत्न किए गये परन्तु वे सब बिफल रहे। एक बार वह एक दिगम्बर मुनि-राज के पास गया। श्री मुनिराज ने उसे भव्य समझकर

समझाया हे वत्स सिर्फ सत्य बोलने का नियम ले ले। यह सत्य तेरा कल्याण करेगा। उसने सोचा साधु महाराज की बात मानने में मेरी स्वतंत्र प्रवृत्ति पर कोई बाधा नहीं है अत: उस राजकुमार ने यह नियम ले लिया कि "मैं सदा सत्य बात बोलूंगा।" अब वह जिस काम को जावे तो पूछे जाने पर वह उसको कैसे छिपावे ? पाप प्रवृत्ति करने वालों में सहज लज्जा का भाव होता है इससे वह छुप करके ही पाप करते हैं।

राजपुत्र ने सत्य व्रत स्वीकार कर लिया था अत: यह पाप कर्मो पर पर्दा कैसे डाल सकता है ? वह वेश्या के यहां जाता है, मास सेवन करता है, मद्य पीने जाता है तो यह बात सबको सच बोलने के कारण मालूम हो जाती है। इससे उनकी आत्मा में बड़ा सन्ताप होने लगा। उसने सोचा सबके समक्ष मेरे पाप प्रकट होने से लोगों में मेरी अप्रतिष्ठा बढ़ती है और हृदय ही ऐसी आदत के विरुद्ध निषेध करता है।

अतएव बहुत शीघ्र वह राजकुमार मुनिराज के पास पहुँचा और हाथ जोड़कर कहने लगा कि महाराज आपके द्वारा दिये गये सत्यव्रत के प्रकाश में मेरी प्रवृत्ति पापों की ओर से हटती जा रही है। एक तो पाप करना और निर्लज्ज होकर दूसरों के सामने प्रकट करना। मेरा इतना पतन हुआ कि पाप करते हुए मैं सबके सामने कहने की हिम्मत करूं इस लिए सत्यव्रत की रक्षा के लिए मुझे यही उचित मालूम होता है कि मैं आज से सब व्यसनो का त्याग कर दूं मुनि-राज से सप्त व्यसनों का त्याग किया जिससे उस राजपुत्र को सर्व प्रकार से आनन्द व प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति हुई।

झूठ बोलने का फलः-

पुण्डरीकणी नगरी में धनदेव और जिनदेव नाम के दो व्यापारी रहते थे। उनमें से धनदेव तो बड़ा ईमानदार और सत्यवादी था परन्तु जिनदेव बड़ा झूठा था। एक दिन उन्होंने ऐसा ठहराव किया कि दोनो मिलकर व्यापार करें, जो लाभ होगा उसे आधा बांट लेंगे। जब वे दोनो विदेश को गये और बहुत सा धन कमाकर लाये तो जिनदेव का चित्त चलायमान हुआ और वह धनदेव से कहने लगा कि मैंने तुम्हें व्यापार में भागीदार नहीं बनाया था। मैंने तो कहा था कि तुम्हारे श्रम के अनुसार तुम्हें थोड़ा सा धन दे दूँगा।

जब जिनदेव धनदेव को आधा हिस्सा न देकर बहुत ही थोड़ा सा धन देने लगा तो धनदेव ने नहीं लिया और बस्ती के महाजनो के पास यह झगड़ा निपटाने का उपाय किया। पर जिनदेव ने पचों की बात नहीं मानी अन्त में धनदेव ने यह झगड़ा तय करने को राजा से विनय की। दोनों का ठहराव मुख जबानी था। कुछ लिखा पढ़ी नहीं थी इसलिए इन दोनों का न्याय करने में राजा को बहुत कठिनाई दिखने लगी।

राजा ने बहुत विचार करते हुए उत्तर दिया कि इन दोनो के हाथों पर जलते हुए अंगारे रखे जायें। अंगारे रखने से जिसको दुःख होगा, वह झूठा समझा जायेगा। राजा की आज्ञा सुनकर जिनदेव बड़ी चिन्ता में पड़ा। वह सोचने लगा कि मैंने धनदेव से आधा भाग देने को कह दिया था

अब मैं मेटता हूं तो मेरे हाथ अवश्य की जलेंगे परन्तु धनदेव के मुख पर प्रसन्नता ही झलकती रही वह सोचता है कि मेरा ठहराव था वही मैं मांगता हूँ सो सत्य धर्म की कृपा से अवश्य ही मेरी जीत होगी मै नहीं जलूंगा।

उन दोनों के चेहरे देखकर राजा की समझ में आ चुका था कि जिनदेव झूठा है परन्तु राजा ने इतने में ही सन्तोष नहीं किया, उन्होंने दोनों के हाथों पर जलते अंगारे रखवा दिये। झूठा जिनदेव तो उस आग का तेज नहीं सह सका परन्तु धनदेव बड़े आनन्द से अंगारे लिए रहा। उसका मन बिल्कुल मलीन नहीं हुआ। यह देखकर राजा तथा सभा के सदस्य धनदेव की सच्चाई की बड़ाई करने लगे और राजा ने प्रसन्न होकर धनदेव को ही धन दिया। इस पवित्र परीक्षा में धनदेव के उत्तीर्ण होने के समाचार सुनकर नगरी के लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उस दिन से ये सब लोग धनदेव का विशेष सम्मान करने लगे।

सत्य बोलने से लाभ—

किसी नगर में एक सेठजी रहते थे वे बहुत धनिक थे। नगर के बाहर उनका एक बाग था जिसमें तरह तरह के रंग बिरंगी फुलवारियां और सुन्दर पेड़ लगे हुए थे। सेठजी का एक इकलौता पुत्र था जिसका नाम सत्यपाल था। अभी केवल वह पांच वर्ष का था। सेठ उसको बड़े लाड़ प्यार से रखते थे। एक दिन सेठ ने एक कुल्हाड़ी खेलने को दी। कुल्हाड़ी लेकर सत्यपाल बड़ा खुश हुआ और दो तीन लड़कों के साथ खेलता हुआ बाग में गया। बाग में पहुंचते ही उसने

कुल्हाड़ी को चलाना शुरु किया और अपनी बे समझी से कहीं किसी टहनियों को काट डाला। इस प्रकार उसने बगिया को उजाड़ डाला।

अभी वह बाग में ही था कि टहलते टहलते सेठजी भी वहाँ पहुँचे। बाग को उजड़ा हुआ देखकर गुस्सा हुए और पूछने लगे कि सच बताओ यह सब किसने किया है। नहीं बताओगे तो मैं सबको दण्ड दूँगा। यह सुनकर सबके सब घबरा गये और दिल ही दिल में डरने लगे इतने में सत्यपाल झट आगे बढ़ा और अपने पिता के सामने कुल्हाड़ी रख हाथ जोड़कर कहने लगा पिताजी यह सब मेरा अपराध है। मैंने इस कुल्हाड़ी से यह बाज उजाड़ा है आप मारें चाहे छोड़ें।

पुत्र के ये वचन सुनकर सेठजी का क्रोध सान्त हो गया और उसे छाती से लगा गोद में बिठाकर प्यार करने लगे। कुछ देकर उन्होने कहा बेटा! तूने आज सच बोला है इसलिए यह इनाम देता हूँ।

सांच को आंच नहीं–

रयन मंजूसा पर आसक्त होकर धवल सेठ ने जहाज की रस्सी काटकर श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया। श्रीपाल समुद्र मे तैरकर किनारे पर लग गये। राजा ने श्रीपाल के साहस को देखकर उसके साथ अपनी पुत्री गुणमाला का विवाह कर दिया। कुछ दिन बाद जहाज लेकर धवल सेठ उसी नगर में आकर राजा के पास गया। राजा के पास श्रीपाल को बैठा देखकर उसके होश हवास गुम हो गये। उसने एक षड़यंत्र रचा और भांडों को धन देकर उनसे कहला

कि श्रीपाल भांडों का पुत्र है भांडों ने ऐसा ही किया। राजा ने रुष्ट होकर श्रीपाल को शूली की सजा सुना दी। नई पत्नी गुणमाला ने अपने पति श्रीपाल से सचाई जानना चाही श्रीपाल ने धवल सेठ के डेरा में रयन मंजूसा से जानकारी प्राप्त करने को कहा। गुणमाला रयन मंजूरा को लेकर आई तब उसने राजा को जानकारी दी जिससे श्रीपाल सुरक्षित बच गये और धवल सेठ को सजा दी गई क्योंकि अन्त में सत्य की विजय होती है।

उत्तम सत्य धर्म

होय भलाई जीव की, दुखित न कोई होय।
यथार्थ बात कहना सदा, सत्य कहावे सोय ॥१॥
जीव दया के हेतु ही, मौन धरे मुनिराय।
सत्य महाव्रती के चरण, नमूँ सदा शिरनाय ॥२॥
बड़ी तपस्या साँच है, बड़ो बरत है साँच।
पाप सभी तासो झरें, लगै न गरम की आँच ॥३॥
सांच कहे दूषण मिटे, नहि तो दोष न जाय।
ज्यों की त्यों रोगी कहे, ताको बने उपाय ॥४॥
बहु सुनबो; कम बोलबो, यह तो चतुर विवेक।
इस कारण ही मनुज के, दोय कान जिभ एक ॥५॥
साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है, ताके हृदय आप ॥६॥
'रहिमन' जिव्हा बावरी, कह गइ सुरग पताल।
आप तु कह भीतर गई, जूती खात कपाल ॥७॥
झूठ बसे जा पुरुष के, ताही की अप्रतीति।
चोर जुआरी से कोई, तात करै न प्रीति ॥८॥
झूठी या संसार में, माया की अनुरक्ति।
सब असार, यदि सार तो. परमेश्वर की भक्ति ॥६॥
सांचे झूठे की जहां, हो न सके पहिचान।
सत्यपुरुषों के वचन ही, माने सदा प्रधान ॥१०॥
झूठा, कैदी, ज्वारि, अरि, चोर, रोग, ठग, जार।
वैश्या और कृतघ्नी ऋणि, करो न इन इतबार ॥११॥
झूठे सुख को सुख कहत, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥१२॥

झूठे मीठे वचन कह, ऋण उधार ले जाय।
लेत परम सुख ऊपजै' लेके दियो न जाय ॥१३॥
झूठ कबहुं न बोलिये, झूठ पाप का मूल।
झूठे की या जगत में, होत प्रतीति न भूल ॥१४॥
झूठे अन्धे गुरु घने, भरम दिखावे आय।
'दादू' साँचा गुरु मिले, जीव ब्रम्ह हो जाय ॥१५॥
झूठे पुरुषों से कभी, करो न कोई प्रतीति।
सच्चे आदर पात हैं, लेते जग-जस जीति ॥१६॥
झूठा स्वारथ छोड़कर, देय सत्य को धार।
इस भव की शोभा बड़े, आगे बेड़ा पार ॥१७॥
झूठी तोती बोलती, ता ढिग रहे न कोय।
झूठ भली नहि जगत में, देखहु किन दृग जोय ॥१८॥
झूठो सुत झूठी तिया, है ठस सा परिवार।
खोसि लेत है ज्ञान धन, मीठे बोल उचार ॥१९॥
झूठे लोभी आलसी, क्रूर भिक्षु पथ भ्रष्ट।
ऐसे रिपु तो सहज ही, किये जा सकत नष्ट ॥२०॥
झूठे मान कहा करे, जग सपनो जिय जान।
इनमें तेरो कछु नहीं, 'नानक' करत बखान ॥२१॥
झूठे की जग साँच भी, कहे न माने कोय।
भांड पुकारे पीर वश, मिस समझे सब कोय।२२।
झूँठ बात नहि बोलिये, जबलग पार बसाय।
कहत 'कबीरा' सांच गह, आवागमन नशाय ॥२३॥
साँच समान न और कछु, सांचो करिय विचार।
साँचो कहिये; सांच सुनि, सांचो संग सम्हार ॥२४।

सत्य दीप बाती क्षमा, शील तेल संजोय।
निपट जतन कर धारिये, प्रतिबिम्बित सब होय।२५।
सांची जाकी लगन है, वीर निभावत टेक।
मुक्ति महाफल देत है, और बात कित्तेक ॥२६॥
सांच सांच ही सब कहैं, सांच देखिये जांच।
झूठ चले नहीं एक पल, सांच न आवे आंच ॥२७॥
शुभ निमित्त तो जीव को, मिले अनन्तीबार।
पै सच्ची श्रद्धा बिना, भटकत फिरो गवार ॥२८॥
साँचे साप न लागई, साँचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिले, सांचे मांहि समाय ॥२९॥
सांचा कहूं तो जग नहीं, झूठ कहूं तो राम।
दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम ॥३०॥
सत्य सदा जो बोलता, ईश्वर उसके साथ।
झूठ कपट चोरी करे, फूटे उसके माथ ॥३१॥
सत्य धर्म को छोड़ के, करे और को जाप।
वेश्या केरा पूत ज्यों, कहे कौन सो बाप ॥३२॥
सत्य धर्म धन पूर्ण जो, कहे न अमृत बैन।
तप नियमों युत सन्त की, विषम दशा सम दैन ॥३३॥
सत्य वचन आधीनता, पर त्रिय मात समान।
इतने में हरि न मिले, 'तुलसीदास' जमान ॥३४॥
सत्संगति निज कल्पतरु, सकल कामना देत।
अमृत रूपी वचन कह, पाप ताप हर लेत ॥३५॥
नहीं किसी भी जीव को, जिससे पीड़ा कार्य।
सत्य वचन उसको कहे, पूज्य ऋषीश्वर आर्य ॥३६॥

दुक्खित जन को क्लेश से, करने को उद्धार।
मृषा वचन भी सन्त के, होते सत्य अपार ॥३७॥
निज मन ही यदि जानता, जिसे असत्य प्रलाप।
ऐसी वाणी बोलकर, मन लो मन सन्ताप ॥३८॥
सत्य व्रत के योग से, जिसका चित्त विशुद्ध।
करता है वह विश्व के, मन पर शासन शुद्ध ॥३९॥
देखी मैंने लोक में, जो जो वस्तु अनेक।
उनमें पाया सत्य ही, परमोत्तम बस एक ।४०॥
अन्य ज्योतिको ज्योति ही, प्राज्ञ न माने ज्योति।
सत्य प्रकाशक ज्योति को, कहते सच्ची ज्योति ।४१।
जैसे निर्मल नीर से, होती देह विशुद्ध।
त्यों ही नर का चित्त भी, होता सत्य विशुद्ध ।४२॥
मत कह मत कह झूठ को, मिथ्या धर्म अधर्म।
सत्य वचन यदि पास तो वृथा अन्य सब धर्म ।४३॥
शाश्वत सुखमय सत्य ही, जिसको मन से मान्य।
ऋषियों से वह है बड़ा, दान से वह अधि मान्य ॥४४॥
पर दुख का कारण बने, वचन झूठ या सांच।
कहे कहावे जो नहीं, सत्य अणुव्रत जांच ॥४५॥
सत्याणु व्रत मात्र के, पालन कर धनदेव।
जगत प्रशंसा प्राप्त कर, भयो स्वर्ग मे देव ।४६॥
झूठ बोल श्री भूत द्विज, रत्न धरो धर धार।
जग में निन्दा प्राप्त कर, लहो नरक दुख भार ॥४७।
जो न बनाया आचारण, सत्य धर्म अनुकूल।
तो प्रकाश विद्या विभव, ज्ञान ध्यान सब धूल ॥४८॥

झूठी शोभा कारणे, मत भाई धन खोय।
निर्धनता आ जायेगी, बात न पूछत कोय ॥४९॥
छेदन बंधन वध तथा, अपयश धन-क्षय दुक्ख।
झूठ वचन के बोलते, सब सुख होवे रुक्ख ॥५०॥
जीभ से सत्य बोलिये, राग द्वेष कर दूर।
उत्तम संगति के लिए, सब सुख होवे पूर ॥५१॥
डर साँचे; न असाँच कहे, डग डग डर अति गाढ़।
तातैं झूठ न बोलिये, ज्ञानी गुन गन गाढ़ ॥५२॥
बोलत प्रतिदिन झूठ जो, ताको मित्र न कोय।
पुण्य की कीर्ति भी न मिले, हित भी कभी न होय ॥५३॥
जिसने छोड़ असत्य को, पाया सत्य प्रदीप।
पृथ्वी पर भी स्वर्ग है, उसको अधिक समीप ॥५४॥
भोजन वमन व स्नान में, मिथुन मूत्र मल त्याग।
सामयिक इन सात में, धरे मौन बड़भाग ॥५५॥
मौन रहे पर होत है, लोलुपता का त्याग।
तप वृद्धि श्रुत की विनय, संयम प्रति अनुराग ॥५६॥
मौन होय भोजन किये, विवाद रहे न कोय।
अविवेक छिपे; विवेक हो, रागद्वेष नहिं होय ॥५७॥
मौन रहे पर कलह नहि, दुर्गुण भी छिप जाय।
कटु वाणी मुख न कढ़े, पीछे हँसी न थाय ॥५८॥
और न कडुबो जानिये, कडुवो बोल कुबोल।
रात दिवस साले हिये, भीतर राखे छोल ॥५९॥
अवसर लखकर बोलिये, यथा योग्य जो बैन।
सावन भादों बरसते, सब ही पावैं चैन ॥६०॥

कटुक वचन छेदत हृदय, जो भी हो परिहास।
अरि से भी शब्द वे, कहो न जो दे भास॥६१॥
कटुक शब्द जो बोलता, मधुर वचन को त्याग।
कच्चे फल वह चाखता, मीठे फल को त्याग॥६२॥
भय या क्रोधावेश में, हिंसा के निज अर्थ।
मृषावाद बोले नहीं, नहीं बुलावे व्यर्थ॥६३॥
जिसके मीठे शब्द सुन, सुख उपजत चहुँ ओर।
दुखवर्द्धक दारिद्र क्या देखे उसकी ओर॥६४॥
बोली सिंहासन धरे, बोली गोली जान।
भला बुरा खुद बोलकर, कर लीजे पहिचान॥६५॥
वाद विवादे विष घना, बोले बहुत उपाधि।
मौन गहो, सबकी सहो, सुमरो नाम अगाध॥६६॥
खोटा दाम व दुर्वचन, दोनों की इक चाल।
जग में जाको दीजिये, फेरिदेय तत्काल॥६७॥
दोषभरी नहिं उचरिये, यद्यपि जथारथ बात।
कहे अन्ध को आन्धरो, मान बुरो वह जात॥६८॥
कुटिल वचन सबसे बुरो, जार करे तन क्षार।
साधु वचन जल रूप है, बरसे अमृत धार॥६९॥
बुरे लगत हित के वचन, हिये विचारो आप।
कडवी भेषज बिन पिये, मिटे न तन की ताप॥७०॥
मधुर वचन है औषधि कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार है संचरे, साले सकल शरीर॥७१॥
मूरख का मुख बिम्ब है, निकसत वचन भुजंग।
ताकि औषधि मौन है, विष नहिं व्यापत अंग॥७२॥

बोली जिनकी मधुर हो, करता श्रम दिनरात ।
करता धन का दान जो, सफलित जीवन भ्रात ॥७३॥
बुरे वचन काढ़ो न तुम, बढ़े कढ़े उत्पात ।
मल जब तक बाहर नहीं, सुन्दर अति यह गात ॥७४॥
आँखें खोजे सत्य को, मन में भरे विकार ।
मैले चश्मे से दिखा, कब यथार्थ संसार ॥७५॥
वाणी में यदि एक भी, पद है पीड़ाकार ।
तो समझो बस नष्ट हैं, पहिले के उपकार ॥७६॥
क्षण भर भी तजिये नहीं, सत्य धर्म की टेक ।
प्राण जाय पर धर्म की रक्षा करिये नेक ॥७७॥
ज्ञानी की तो बात करो, ज्ञानी जाने सांच ।
कुम्भकार कब कर सका, हीरे की वह जांच ॥७८॥
ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय ।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय ॥७९॥
सत्य कहें अमृत झरे, शीतल करे जु हीय ।
सो सांचा हितु जानिए, सुख पहुँचावे जीय ॥८०॥
हित मित सत्य मधुर वचन, जो जन जाने बोल ।
सो सब जग को वश करे, देय मुक्ति मग खोल ॥८१॥
कबहुँ न भाषिय कटु वचन, बोलिय मधुर सुजान ।
जेहि ते आदर करें, होय जगत कल्यान ॥८२॥
जिसका साथी सत्य है, कभी अकेला नाय ।
कुछ साथी भग जाय पर, बहुमत दौड़त आय ॥८३॥
करो नीच सहवास नहिं, जे अधिकाय मलीन ।
मति बिगरत आदर घटत, होत धरन भी छीन ॥८४॥

जानि बूझि सांचौ तजै, करै झूठ से नेह।
ताकी संगति हे प्रभो, सपनों में मत देह ॥८५॥
असत संग के वास से, गुन अवगुन हो जात।
दूध पिवै कलवार घर, मदिरा सबहिं बुझात ॥८६॥
करिये विद्यावन्त को, सेवन अरु सहवास।
तासों आवत गुण अमित, अवगुण होवे नाश ॥८७॥
घात वचन न लिखाइये, इससे लगता पाप।
प्रबल पक्ष माने नहीं, फिर होगा सन्ताप ॥८८॥
एक बार के झूठ से, कोई करे न प्रीति।
सत्य वचन बोलें सदा, सज्जन जन की नीति ॥८९॥

उत्तम शौच धर्म

पर पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का त्याग करते हुए एवं स्व-स्वरूप में आत्मीय भाव धारण करना उत्तम शौच धर्म है। विषय भोगो की उपलब्धि से सतत बढ़ने वाली अतृप्त लालसाकी जड़ तृष्णाके यथार्थ विकराल रूप का दर्शन कर लेने वाला श्रमण सन्तोष एवं निर्ममत्व के निर्मल महासागर में निमज्जन करता हुआ आत्म रस का चातक बनकर आत्मानुभूति का मधुरस पीते रहते हैं ऐसे श्रमण के उत्तम शौच धर्म होता है।

उत्तम शौच धर्म की आराधना:—

उत्तम शोच लोभ परिहारी, सन्तोषी गुण रतन भंडारी।
उत्कृष्ट रीति से लोभ के त्याग रूप जो निर्मल परिणाम वही उत्तम शौच धर्म है। भेद ज्ञान के द्वारा जगत के समस्त पदार्थों से जिसने अपनी आत्मा को भिन्न जान लिया है देह को भी अत्यन्त पृथक जानकर उसका भी ममत्व छोड़ दिया है और पवित्र चैतन्य तत्त्व की आराधना में जो तत्पर हैं ऐसे श्री मुनिवरों जिनकी किसी भी परद्रव्य के ग्रहण की लोभवृत्ति नहीं होती, भेदज्ञान रूप पवित्र जल से मिथ्यात्वादि को धो डालते हैं।

जो शौच धर्म के आराधक हैं जगत के समस्त पदार्थों से सम्बन्धित लोभ को छोड़ करके मात्र चैतन्य की साधना में तत्पर हैं ऐसे मुनिवरों को हमारा बार बार नमस्कार हो। शुचेर्भाव: शौचम् अर्थात् भावों की शुद्धि होना ही शुचिता (पवित्रता) है, उत्तम विशेषण है जो किंचित मात्र भी मलिनता के अभाव का सूचक है। अन्तरंग आत्मा से कषायों के अलग

हो जाने पर शौच धर्म प्रकट होता है।

लोभादि कषायें पर पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होती हैं इसलिए ये परभाव हैं। परभाव के अभाव होने पर जो स्वभाव प्रकट होता है वही निश्चय शौच धर्म है। व्यवहार में शौच धर्म बाह्य शुद्धि को कहते हैं अर्थात् शरीर, घर, वस्त्र आदि की शुद्धि को शौच कहते हैं परन्तु बाह्य शुद्धि से अन्तरंग की शुद्धि नहीं हो सकती।

अन्तरंग शुद्धि के बिना केवल बाह्य शुद्धि से आत्मा उसी प्रकार है जैसे कि स्वर्ण पात्र में विष या मदिरा भरी हो। मदिरा या विष भरे पात्र को बाहर से चाहे जितना मलमल कर साफ कीजिए, पर उसका दोष कभी दूर नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस रज वीर्य के पिण्ड रूप मल मूत्र रुधिर, पीप, माँस की थैली रूपी शरीर को नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थों से धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं हो सकती है किन्तु इस शरीर के स्पर्श मात्र से ही सम्पूर्ण शुद्ध और सुगंधित पदार्थ भी दुर्गन्धित हो जाते हैं।

इस शरीर के आंख, नाक, कान, मुंह, गुदा, योनि लिंग तथा रोम आदि से निरन्तर दुर्गन्ध रूप मल मूत्रादि झड़ते रहते हैं। केशर कस्तूरी तथा कपूर आदि पदार्थों को भी यह शरीर मल रूप कर डालता है। ऐसा दुर्गन्धित घृणित महा अपवित्र शरीर जलादिक से धोने से कैसे पवित्र हो सकता है। कदापि नहीं। यह शरीर सर्वदा मैला ही है। केवल बाह्य शुद्धि से मन की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। ऐसे मैले अपवित्र तन को धोकर शुद्ध मान लेना नितान्त भूल है इस-लिये साधु जन रत्नत्रय का पालन करके इस शरीर को सर्वथा

पवित्र करते हैं तथा अपने अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप परम शुद्धात्मा का इस शरीर से सर्वथा भिन्न जानकर इससे ममत्व नहीं रखते हैं। वे इसकी कुछ भी अपेक्षा न करके अपने अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख मयी चैतन्य स्वरूप में मग्न रहते हैं। वे इस घृणित शरीर के संस्कार करने में अपना समय नहीं बिताते हैं।

वे जानते हैं कि प्रथम तो यह शरीर अपवित्र है, जो कदापि शुद्ध हो ही नहीं सकता है जैसे कि कोयला दूध में धोने पर भी कभी सफेद नहीं होता है। दूसरे यह तन आयु कर्म के आधीन अस्थिर है। तीसरे बुढ़ापे और रोगों से पीड़ित है, जड़ है अचेतन है, अनेक प्रकार से सुरक्षित रखने पर भी सुरक्षित नहीं रह सकता और न कभी साथ देता है। कहा भी है-

चेतन—

शृंगार विलेपन भूषण से, निशि वासर तोहि सम्हारे।
पुष्टि करी बहु भोजन पान दे,धर्म अरु कर्म सबै ही बिसारे
सेये मिथ्यात्व अन्याय करे, बहुतं तुझ कारण जीव संहारे।
भक्ष गिने न अभक्ष गिने,अब तो चल संग तू काय हमारे॥

काया -

ये अनहोनी कहो क्या चेतन, भाँग खाई कै भये मतवारे।
संग गई न चलूँ अबहूं, लखि ये तो स्वभाव अनादि हमारे
इन्द्र नरेन्द्र धरेन्द्र के नहि संग गई तुम कौन विचारे।
कोटि उपाय करो तुम चेतन, तोहू चलूँ न संग तुम्हारे॥

सबसे अधिक अंतरंग की अशुचिता आत्मा के लिए लोभ कषाय है। मुनियों को दशम गुण स्थान से गिराकर नीचे ला देती है। कहा भी है-'लोभ पाप को बाप बखाना।' लोभी पुरुष न करने योग्य काम करता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि किसी पाप से नहीं डरता है।

संसारी प्राणी निरन्तर तृष्णा अग्नि में जला करते हैं जहाँ तक आशा, तृष्णा और चाह लगी रहती है, वहां तक प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकता है क्लेश, हँसी, मैंथुन खाज शोक, चिन्ता, निद्रा, बैर और परनिन्दा ये दश बातें घटानेसे घट सकती हैं और बढ़ाने से बढ़ सकती हैं। इसलिए ज्ञानी को घटानी चाहिए। सन्तोषी सदा सुखी रहता है सन्तोषी ही उच्च और लोभी ही नीच होता है नीतिकार ने कहा है कि-

देव कहे सो नीच है, नाहि करें मह नीव।
लेव कहें ऊंचा पुरुष, नहिं लेय मह ऊंच॥

लोभ पाप को, बाप बखाना। इससे मिलते संकट नाना॥

कम्पिला नगरी में रत्नप्रभ नाम के राजा राज्य करते थे इनकी रानी विद्युत्प्रभा थी। इसी नगरी में रत्नप्रभ नामके पिण्याकगंध नाम के दो साहूकार थे। जिनदत्त तो धर्मात्मा और उदार चित्त था, पर पिण्याकगंध बड़ा लोभी और पापी था। इसकी स्त्री भी इसके समान थी। एक समय राजा ने नगर में तालाब खुदवाया तो उसमें से बहुत सोने के खम्भे निकले जो मिट्टी में दबे रहने के कारण मैले थे और लोहे के समान प्रतीत हो रहे थे। मजदूर लोग उन्हें उठाकर बेचने

ले गये थे इनमें से एक खम्भा सेठ जिनदत्तने रख लिया था।

जब जिनदत्त ने जांच की तो वह सोने का निकला परन्तु मूल्य लोहे का दिया था। शेष द्रव्य को अपना न समझकर उसने उसे धर्म कार्य में लगा दिया परन्तु पिण्याक गंध जिसने बहुत से खम्भे लोहे की कीमत में ले रखे थे और सोने के जानता भी था। उसने द्रव्य में मोहित होकर संचित कर रखे थे, एक दिन राजा तालाब देखने को गया और एक खंभा और भी पड़ा देखा जांच करने पर वह सोने का प्रतीत हुआ। इससे राजा ने और भी खुदाया तो वहां ताम्रपत्र 'में १०० खम्भों की बात लिखी थी। तब राजा ने शेष खंभों की तलाश की तो मालूम हुआ की एक खम्भा तो जिनदत्त सेठ ने मोल लिया है। शेष ९८ खम्भे पिण्याक गन्ध ने लिये हैं।

राजा ने दोनों सेठों को बुलवाया। तब जिनदत्त सेठ ने तो स्वीकार कर लिया और उस खम्भे के विक्रय से प्राप्त द्रव्य का हिसाब राजा को दिखाकर निरपराध छुटकारा पा लिया। परन्तु पिण्याक गंध ने स्वीकार नहीं किया इससे राजा ने उसके घर का सब द्रव्य लुटवा लिया जिससे खम्भे तो गये ही साथ में और भी ३२ करोड़ की सम्पत्ति भी चली गई।

पिण्याक गंध इस दुक्ख को सहन करने में असमर्थ था इसलिये उसने आत्म घात कर प्राण छोड़े और रौद्र ध्यान से मरकर छटवे नरक गया। जिनदत्त सेठ यह चारित्र देखकर विरक्त हो गया और तप कर आयु के अन्त में समाधि मरण

करके स्वर्ग में देव हुआ। लोभ कषाय का त्यागना तथा लब्ध में सन्तुष्ट होना शौच धर्म है। नीतिकार ने कहा है:-

सा श्रीः या न मदं करोति, सः सुखी यः तृष्णयामुच्यते ।
तन्मित्रं यद् कृत्रिमं, स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥

वही लक्ष्मी है जिसे पाकर मद प्रकट न हो, वही पुरुष सुखी है जिसे तृष्णा न हो, वही मित्र है जो बनावटी (छल कपटी) न हो, वही उत्तम पुरुष है जो इन्द्रियों के विजय प्राप्त न होने पर खेद खिन्न नहीं हो। लोभ प्राणियों का अति भयंकर शत्रु है। लोभी भक्ष्याभक्ष्य को खाता है। निर्दय होकर इहलोक और परलोक का नाश करता है लोभ नरक ले जाता है। प्रकर्षता को प्राप्त लोभ कषाय को परित्याग कर सन्तोष रूपी जल से चित्त का प्रक्षालन करना शौच धर्म है। धनादि मेरे पास है ऐसी अभिलाषा ही सर्व संकटों में गिराती है। इस ममत्व को हृदय से दूर करना ही शौच धर्म है।

सन्तोष के धनी —: रांका बांका

बड़े विरक्त, अत्यन्त अपरिग्रही, धर्म पर दृढ़ विश्वास रखने वाले भक्त थे रांकाजी। जैसे वे उनकी पत्नी बांका। दोनों प्रतिदिन जंगल में जाकर सूखी लकड़ियां काटकर ले आते थे। उन्हें बेचकर जो कुछ मिलता उसके द्वारा अतिथि सत्कार भी करते और जीवन निर्वाह भी। विवेक को कभी कभी अपनी परीक्षा भी देना पड़ती है तभी उनकी कीर्ति का विस्तार होता है।

एक दिन उनको स्वर्ण मुहरों से भरी थैली वन के उस मार्ग में मिली जिधर ये भक्त दम्पत्ति लकड़ियां काटने

जा रहे थे। बांका जी पत्नि से कुछ आगे चल रहे थे मन भगवान के चिन्तन में लगा था, पैर को ठोकर लगी तो देखा कि एक थैली स्वर्ण मुद्राओं से भरी खुली पड़ी है।

जल्दी जल्दी उसे धूलि से ढकने लगे। इतने में बांका जी पास आ गई। उन्होंने पूछा आप क्या कर रहे हैं? रांका ने उत्तर टाल देना चाहा किन्तु पत्नी के आग्रह करने पर बोले-मुहरों से भरी थैली पड़ी है। स्वर्ण देखकर तुम्हारा मन इन्हें लेने का न करे इसलिए मैं इन्हें ढक रहा था। बांका जी हँस पड़ी "वाह धूली पर धूली डालने पर क्या लाभ? स्वर्ण और धूली में भेद ही क्या है? आप अकारण यह भ्रम मत कीजिये।"

❀

उत्तम शौच धर्म

लालच के इस कीच को, देत शौच जल धोय।
शौच धर्म के होत ही, राग-द्वेष नहिं होय ॥१॥
जिस मानव ने कर लिया, सन्तोषामृत पान।
परम शान्ति वह पा सका, सुखी नहीं धनवान ॥२॥
यह मेरा यह अपर है, यों सोचे अनुदार।
है उदार नर के लिए, सकल विश्व परिवार ॥३॥
सुख की इच्छा होय तो, धरो परम सन्तोष।
सुख की जड़ सन्तोष है, दुख की तृष्णा रोप ॥४॥
रूखा सूखा खाय के, ठण्डा पानी पीव।
देख पराई चूपड़ी, मत ललचावे जीव ॥५॥
बाहर सुन्दर सी लगे, भीतर है घिनगेह।
आत्मा इसमें न रहे, कोई करे न नेह ॥६॥
सुन्दर देही देख के, करता है अनुराग।
मढ़ी न होती चामड़ी, तो खा जाते काग ॥७॥
लाखों का संग्रह करें, करें न धन का दान।
ऐसे नर के जात हैं, नाग योनि में प्राण ॥८॥
लोभ सदृश अवगुण नहीं, तप नहीं सत्य समान।
तीर्थ नहीं मन शुद्धि सम, विद्या सम धन आन ॥९॥
लोभ में इच्छा दम्भ बल, कामी केवल नार।
क्रोध में वचन परुष बल, मुनि वर करहिं विचार ॥१०॥
लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ अधिक नहिं कीजिए, इससे नरक निदान ॥११॥
लोभ बुद्धि विचलित करे, तृष्णा को उपजाय।
लोक और परलोक में, सदा दुक्ख पहुँचाय ॥१२॥

लोभी नृप मानी, अनुग, बहुदानी धनवान ।
भोगी त्यागी खल-तिया, शीघ्र नशे दृढ़ जान ॥१३॥
लोभी नर पर धन हरें, लखें न आपद कोय ।
बिल्ली निर्भय दूध को, पिये न लाठी जोय ॥१४॥
लोभी मनुष्य द्रव्य को, नहिं देवे नहिं खाय ।
इक दमड़ी जावे नहीं, चाहे चमड़ी जाय ॥१५॥
आयु गले, मन नहि गले, इच्छाशा न गलन्त ।
तृष्णा मोह बढ़े सदा, यासे भव भटकन्त ॥१६॥
लालच भी ऐसे भलो, जासे पूरे आस ।
चाटे हू कहुँ ओस के, मिटत कहूँ न प्यास ॥१७॥
लोभ पाप को मूल है, दुर्गति में ले जाय ।
'सन्मति' बचना लोभ से, तो निज में रम जाय ॥१८॥
लोभ मोह के जीत से पुनर्जन्म हो बन्द ।
फँसते हैं भव जाल में, कटे न जिनके फन्द ॥१९॥
लोभ मोह के जाल में, फंसता चंचल चित्त ।
समझाये मानत नहीं, कथा सुनत है नित्य ॥२०॥
लोभ महा रिपु देह में, सब दुक्खों की खान ।
पाप मूल अरु प्राण हर, तजो ताहि मतिमान ॥२१॥
लोभ बुरा संसार में, सुध बुध सब हर लेत ।
बाप बखानो पाप को, शुभहि पयानो देत ॥२२॥
लोभे लाज घटे घनी, लोभे प्रभु प्रतिकूल ।
लोभे सद्गुण नशत हैं, लोभ पाप को मूल ॥२३॥
लोभ पाप को पाप है, क्रोध क्रूर यमराज ।
माया विष की बेलरी मान विषम गजराज ॥२४॥

लोभी धन में रक्त है, मूढ़ काम रत मान ।
मेधावी नर शान्ति में, मिश्र तीन में जान ॥२५॥
तृष्णा नदी अगाध जल, जिसका नाहीं पार ।
साधू धीरज नाव चढ़, भये पार तप धार ॥२६॥
तृष्णा मिटे सन्तोष से, सेवे अति बढ़ जाय ।
तृण डारे आनन्द बुझे, बिन तृण के बुझ जाय ॥२७॥
चाह किये सो नहि मिले, चाह समान न पाप ।
चाह रखे चाकरी करे, चाह बिना प्रभु आप ॥२८॥
ज्यों अंकुश माने नहीं, महामत्त गजराज ।
त्यों मन तृष्णा वश फिरे, गिने न काज अकाज ॥२९॥
सभी वस्तु सीमित कहीं, तृष्णा सीमित नाहि ।
मृत्यु निकट आ जाय पर, तृष्णा छोड़े नाहि ॥३०॥
बाल पके दांतहि हिले, नयन नजर कम होय ।
जरा आय कम सुन पड़े, ममता जीर्ण न होय ॥३१॥
करत करत दिन रात भी, आयू बीती जाय ।
तृष्णा पूरी ना भई, बाकी बहुत बताय ॥३२॥
धन की तृष्णा हो अधिक, रंच नाहि सन्तोष ।
वही दरिद्री जानिये, रखे भले बहु कोष ॥३३॥
बड़े बड़े जग में भये, जाते खाली हाथ ।
अन्त समय में कौनका कौन देत है साथ ॥३४॥
कहा कहूं दग दोष को, मोपे कहे न जाय ।
देख विरानी वस्तु को, देख देख ललचाय ॥३४॥
संग्रह सब कोई करे, विरले करते त्याग ।
ममता मदरा सब पिये, तोषामृत बड़भाग ॥३५॥

संचय करिबो है भलो, जो आवे शुभकाम ।
पाप न सचय कीजिय, जो अपयश को धाम ॥३७।
परधन हरने के लिए, जाको मन ललचाय ।
नीति विमुख वह क्रूरतम, क्षीण वंश हो जाय ॥३८॥
जिसे घृणा हो पाप से, वह नर को न लोभ ।
लगे न वह दुष्कर्म में, बढ़े न जिससे क्षोभ ॥३६॥
पर-सुख चिन्तक श्रेष्ठ जन, त्यागे सदा अकार्य ।
क्षुद्र सुखों के लोभ हित, बनते नहीं अनार्य ॥४०॥
जिनके वश में इन्द्रियां, तथा उदार विचार ।
इप्सित भी पर वस्तु लूं उसके नहीं विचार ॥४१॥
ऐसी बुद्धि न काम की, लालच जिसे फसाय ।
तथा समझ वह निन्द्य जो, दुष्कृति अर्थ सजाय ।४२॥
उत्तम पथ के पथिक जो, यश के रागी साथ ।
मिटते वे भी लोभ वश, रच कुचक्र निज हाथ ॥४३॥
तृष्णा संचित द्रव्य का, भोग काल विकराल ।
त्यागो इसकी कामना, जिससे रहो निहाल ॥४४॥
न्यून न हो मेरी कभी, लक्ष्मी ऐसी चाह ।
करते हो तो छीन धन, लो न किसी की आह ॥४५॥
विदित नीति पर धन विमुख, जो वुध तो सस्नेह ।
ढूंढ़त ढूंढ़त आप श्री, पहुंचे उसके गेह ॥४६॥
दूर दृष्टि से हीन का, तृष्णा से संहार ।
निर्लोभी की श्रेष्ठता, जीते सब संसार ॥४७॥
सोचे जग धनवान हो, बनूं कुबेर समान ।
तृष्णा बढ़ती जायगी ज्यों पावक घृत जान ॥४८॥

आशाओं को तृप्त कर, शान्ति न पावे जीव ।
चलनी में पानी भरे, तृष्णा बुझत न जीव ॥४६॥
सब सुख हैं सन्तोष में, धरिये मन सन्तोष ।
नेक न दुर्बल होत है, सर्प पवन के पोष ॥५०॥
देह धर्म कुल कर्म अरु, तजे तुरत पितु मात ।
लोभ विवश नर करत है, मित्र विप्र गुरु घात ॥५१॥
चक्रवर्ति की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग ।
काक बीट सम मानते, सम्यग्दृष्टि लोग ॥५२॥
जिस सन्तोष विचारिये, होय जु लिख्यो नसीब ।
खल गुड़ कांच कथीर में, मानत रली गरीब ॥५३॥
जो नर बहु तृष्णा करे, चौरें पर का वित्त ।
सो खो बैठे आपनो, साथ ही पर के वित्त ॥५४॥
जोड़ जोड़ संचय करे, ममता दुख का भार ।
मरना सबको एक दिन, समता सुख आधार ॥५५॥
जब जोड़त तब प्रिय लगत, लूटत दुक्ख भरपूर ।
अतः सम्पदा सांप से, 'सिद्ध' रहो तुम दूर ॥५६॥
जोड़ जोड़ धर जायेगा, संग चलेगा कौन ।
यश अपयश रह जायगा, साथी तेरा कौन ॥५७॥
तन की भूख तनक सी, तीन पाव या सेर ।
मन की भूख अथाह है, लीलन चहे सुमेर ॥५८॥
घर घर डोलत दीन ह्वै जन जन जाँचत जाय ।
हिये लोभ चश्मा चखनु, लघुपुनि बडो लखाय ॥५६॥
हिंसा चोरी झूठ अरु, क्रोधादिक जे पाप ।
सो सब उपजै लोभ से, लोभ पाप को बाप ॥६०॥

तृष्णा किये क्या मिले, नाशै हित निज देह ।
सुखी सन्तोषी सासता, जग यश रहे सनेह ।।६१।।
तृष्णा वैतरणी नदी, यम स्वरूप है रोष ।
कामधेनु विद्या अहै; नन्दन वन सन्तोष ।।६२।।
तृष्णा तोहि प्रणमति करूं, गौरव देत निवार ।
प्रभू आय वामन भये, याचक बलि के द्वार ।।६३।।
तोष हृदय में राखिए, सब विधि सफल विचार ।
बिन तोष बहु दुक्ख है, सत्य वचन निर्धार ।।६४।।
तृष्णा अग्नि प्रलय सी, तृप्त न कबहूँ होय ।
सुर नर मुनि अरु रंक सब, भस्म करत है सोय ।।६५।।
जा घट तृष्णा नागनी, ता मुख जाप न होय !
जो टुक आवे याद भी, वही जाय फिर खोय ।।६६।।
ज्यों ज्यों पूरे कामना, त्यों त्यो बढ़ती चाह ।
ज्यों घृत डारे आग में, दूनो लेत उछाह ।।६७।।
ज्यों पूरो त्यों उभरती, अफरे नाहिं अघाय ।
तृष्णा खाई विचित्र है, बिन पूरे पुर जाय ।।६८।।
'रहिमन' वित्त अधर्म का, नशत न लागे बार ।
चौरी कर होरी रची, होत तनिक में छार ।।६९।।
धन-संग्रह ईंधन जले, आशाग्नि के बीच ।
भ्रमवश मानत शान्ति है, झगड़े बढ़ते नीच ।।७०।।
प्रभु पर हो या भाग्य पर, शुचि श्रद्धा विश्वास ।
कभी न होगा वह विफल, कहीं न दुखी निराश ।७१।
जग में बैरी दोय हैं, एक राग एक द्वेष ।
इन्हीं के व्यापार से, मिले नहीं सन्तोष ।।७२।।

राग समान न आग है, निन्दक काला काग।
जल जायेगा मित्र तू, शीघ्र यहाँ से भाग ॥७३॥
मल-घट सम अतिमलिन तन, निर्मल आतम हंस।
कर ऐसा श्रद्धान तू, नशै कर्म का वंश ॥७४॥
लोभी धन को लखत है, लखै न विपदा कोय।
देखे बिल्ली दूध को, लगुड़ प्रहार न जोय ॥७५॥
इधर उधर क्यों भटकता, धर कर मन में लोभ।
छोड़ उसे धर धर्म को, रहे न कोई क्षोभ ॥७६॥
कामी व्याधी लालची, मानी अरु मद अन्ध।
चुगल जुआरी चोरटा, आठों कहिये अन्ध ॥७७॥
कैलाशादि अचल गण, कनक रजत स पूर।
लोभी तृण सम मानता तृष्णा नभ सी दूर ॥७८॥
भीतर देह घिनावनी, रोगों की है धाम।
जब तक यह तन ठीक है, कर ले अपना काम ॥७९॥
देख बुढ़ापे की दशा; थर थर कांपत गात।
बुरे बुरे दिन बीतते, कोई सुने न बात ॥८०॥
पता किसी को न चले, कब आवेगा काल।
क्यों माया में उलझता, मकड़ी जैसा जाल ॥८१॥
क्यों आया क्या कर चला, ज्ञानी पूछे बात।
लेखा कैसे देयगा? क्या ले जाता साथ? ॥८२॥
सुनते सुनते शास्त्र को, बहिरे हो गये कान।
तो भी तृष्णा न घटी, प्रयाण पथ पर प्राण ॥८३॥
लोभ मूल सब पाप को, दुख को मूल सनेह।
मूल अजीरन देह को मरन मूल है देह ॥८४॥

तोष हृदय में राखिये, जो सुख की हो चाह ।
मन की तृष्णा घटत ही, मिलत सुखों की राह ॥८५॥
इच्छा सुख की होय तो, धरो परम सन्तोष ।
सुख की जड़ सन्तोष है, दुख की तृष्णा रोष ॥८६॥
तृष्णा सचित द्रव्य का, भोग काल विकराल ।
त्यागो इसकी कामना, जिससे रहो निहाल ॥८७॥
धन जोड़त तो प्रिय लगे, लुटते दुख भरपूर ।
अतः सम्पदा सर्प से, 'सिद्ध' रहो तुम दूर ॥८८।
लोभ कबहुँ न कीजिए, यामें विपति अपार ।
लोभी का विश्वास नहि, करे कोई संसार ॥८९॥
लोभ सरिस अवगुण नहीं, तप नहि सत्य समान ।
तीरथ नहि मन शुद्धि सम, विद्या सम धन आन ॥९०।
लोभ मूल है दुक्ख को, लोभ पाप को बाप ।
फँसे लोभ में मूढ़ जन, भोगत हैं सन्ताप ॥९१॥
मिले परम सुख ताहि को, जाके मन सन्तोष ।
येन केन विधि सों सदा, यथा लाभ जेहि तोष ॥९२॥
बार बार मुंह देखता, कहुँ मैलो नहि होय ।
पर हृदय नहीं देखता, छिन छिन मैलो होय ॥९३॥
बाहर सुन्दर सी लगे, भीतर है घिनगेह ।
निकल जाय जब आत्मा, कौन करे तब नेह ॥९४॥
मन से ही मल ऊपजे, मन से ही मल धोय ।
सीख भली गुरु साधु की, जिससे निर्मल होय ॥९५॥
यह हड्डी भी अपवित्र है, सो यह मेरी नाहिं ।
और खून भी अशुचि है, सब पुद्गल परछाहिं ॥९६॥

वस्त्र खूब धारण किये, शीत नेक नहिं जाय।
धन वैभव जितना बढ़े, अज्ञानी न अघाय ॥९७॥
आधी निज रूखी भली, सारी सो सन्ताप।
जो चाहेगा चूपरी, बहुत करेगा पाप ॥९८॥
ज्ञानी की भावना, तृष्णा तोड़नहार।
अज्ञानी की भावना, तृष्णा बढ़ावनहार ॥९९॥
वश में जिसके पुत्र हो, आज्ञा में हो नार।
सन्तोषित निज विभव से, यहीं स्वर्ग का द्वार ॥१००॥

★